हिन्दी के प्रमुख कहानीकार

- राजनाथ शर्मा

हिन्दी के प्रमुख कहानीकार

श्री० राजनाथ शर्मा एम० ए०

विनोद पुस्तक मन्दिर
हॉस्पिटल रोड, आगरा

प्रकाशक—
राजकिशोर अग्रवाल
विनोद पुस्तक मन्दिर
हॉस्पिटल रोड, आगरा

प्रथम संस्करण
१९६१
मूल्य ३.००

मुद्रक—
राजकिशोर अग्रवाल
कैलाश प्रिंटिंग प्रेस
बागमुजफ्फर खाँ,
आगरा

प्रत्यक्ष में अपरिचित

परोक्ष में घनिष्ठ मित्र

श्री कृष्ण प्रताप सिंह एम० ए०, एल० एल० बी०

परेड, कानपुर

को

'परिवार' की सस्नेह भेंट

—राजनाथ

दो शब्द

आज 'कहानी' हिन्दी-साहित्य की सर्वाधिक उन्नत और सशक्त विधा बन चुकी है। असंख्य नए-पुराने कहानीकारों ने अपने अथक परिश्रम, अध्ययन और प्रतिभा द्वारा इसके विभिन्न रूपों को सजाया-सँवारा है, नए-नए प्रयोग किए हैं। प्रस्तुत पुस्तक में हिन्दी के प्रतिनिधि प्रमुख कहानीकारों के विवेचन-विश्लेषण द्वारा लेखक ने हिन्दी-कहानी के विकास का एक क्रमबद्ध इतिहास प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। इस विवेचन-विश्लेषण में लेखक ने भरसक तटस्थ दृष्टिकोण अपनाने की कोशिश की है, कहानी-साहित्य के मर्मज्ञ विद्वानों की सम्मतियाँ उद्धृत कर उसे पूर्ण बनाने का प्रयत्न किया है और कहीं-कहीं—जहाँ उसने अन्याय होता हुआ देखा है—अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत कर भ्रामक मतों का खंडन करने का भी प्रयत्न किया है।

इस विवेचन मे लेखक ने जानबूझकर हिन्दी के उन नवीन कहानीकारों को नहीं लिया है जो अभी निर्माण और विकास के पथ पर अग्रसर हैं।

आशा है अपने इस रूप में यह छोटी-सी पुस्तक पाठकों के सम्मुख हिन्दी-कहानी का एक संक्षिप्त और समुचित अध्ययन प्रस्तुत करने में समर्थ होगी। आगामी संस्करणों में इसे और भी अधिक विस्तृत और सुसम्बद्ध रूप देने का प्रयत्न किया जायेगा।

लक्ष्मी निवास
गोकुलपुरा
आगरा

—राजनाथ शर्मा

विषय-सूची

क्रम संख्या | पृष्ठ संख्या

हिन्दी के प्रमुख कहानीकार

चन्द्रधर शर्मा गुलेरी

'उसने कहा था' नामक हिन्दी की अमर कहानी के लेखक पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी हिन्दी साहित्य में केवल एक सफल तथा श्रेष्ठ कहानीकार के रूप में ही जाने जाते हैं। हिन्दी के बहुत कम पाठक इस बात को जानते हैं कि वे देशी-विदेशी अनेक भाषाओं के कितने प्रकांड विद्वान थे। डा० नगेन्द्र के शब्दों में—"वे अपने युग के शुद्ध प्रथम श्रेणी के विद्वान थे। पुरातत्व, इतिहास, दर्शन, ज्योतिष, साहित्य, भाषा-विज्ञान—सभी में उनकी अबाध गति थी। संस्कृत, पालि, प्राकृत आदि प्राचीन भाषाओं और हिन्दी, बंगला, मराठी अंग्रेजी आदि आधुनिक भाषाओं पर उनका समान अधिकार था। लेटिन, जर्मन, फ्रेंच का भी उन्हें ज्ञान था।" इतने विषयों एवं इतनी भाषाओं के इस प्रकांड विद्वान का साहित्यिक-परिचय हिन्दी-संसार को केवल एक कहानीकार के रूप में ही मिल सका, इसे हिन्दी का दुर्भाग्य ही माना जायेगा।

गुलेरी का जन्म, शिक्षा-दीक्षा आदि जयपुर में हुई थी। उन्होंने एन्ट्रेन्स की परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की और साथ-साथ संस्कृत का भी अध्ययन करते रहे। अपने विद्यार्थी जीवन में ही महाभाष्य का अध्ययन किया, 'सम्राट्-सिद्धान्त' नामक ज्योतिष-ग्रन्थ के कुछ अंशों का अनुवाद किया और लेफ्टीनेन्ट गैरेट के साथ 'The Jaipur observatory and its builder' नामक ग्रन्थ अंग्रेजी भाषा में लिखा। इसके उपरान्त उन्होंने सन् १९०३ में प्रयाग विश्वविद्यालय से प्रथम श्रेणी में बी० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण की और जयपुर महाराज ने उन्हें स्वर्ण-पदक आदि प्रदान कर सम्मानित किया। वे दर्शन-शास्त्र में

एम० ए० करना चाहते थे परन्तु उन्हें जयपुर महाराज के आग्रह से मेयो कालेज जाना पड़ा और वहाँ संस्कृत विभाग के अध्यक्ष बन गए। १९१७ में उन्हें जयपुर राज्य के समस्त सामन्तों का अभिभावक नियुक्त किया गया। १९२० में वे अजमेर से काशी चले आए और वहाँ काशी-विश्वविद्यालय में 'College of Oriental learning and theory' के प्रिंसिपल नियुक्त किए गए। इसके उपरान्त वे काशी नागरी-प्रचारिणी सभा के सभापति चुने गए, तथा उन्होंने देवीप्रसाद ऐतिहासिक पुस्तक माला एवं सूर्यकुमारी पुस्तक माला का सम्पादन किया। इतने महत्वपूर्ण पदों पर प्रतिष्ठित रहते हुए और इतने गौरवपूर्ण कार्य करते हुए उन्तालीस वर्ष की अल्पायु में ही उनका देहान्त हो गया। डा० नगेन्द्र के शब्दों में—''उन्तासील वर्ष की अल्पायु में ही समस्त दिशाओं को उद्भासित कर यह प्रकाश-पुंज भी तिरोहित हो गया और विद्वान लोग यह अनुमान ही लगाते रह गए कि यदि कुछ और समय मिलता तो शायद वह हिन्दी-जगत को समग्र आच्छादित कर लेता।''··· गुलेरीजी हिन्दी के उन साहित्यिकों में से थे जिन्होंने कम लिखा, पर ख्याति अधिक प्राप्त की।"

गुलेरी राहुल सांकृत्यायन के समान संस्कृत भाषा के प्रकांड विद्वान थे। परन्तु उन्होंने न तो संस्कृत में ही अधिक लिखा और न हिन्दी में ही। हिन्दी-क्षेत्र में उनका कार्य मुख्यत: प्रचारात्मक ही रहा। उन्होंने जयपुर से प्रकाशित होने वाले मासिक पत्र 'समालोचक' का सम्पादन किया था और अन्य पत्र-पत्रिकाओं में लेख लिखा करते थे। उनका 'पुरानी हिन्दी' नामक निबन्ध आज भी अत्यन्त महत्वपूर्ण माना जाता है। हिन्दी में वे कभी-कभी ही लिखा करते थे। इसे हिन्दी का दुर्भाग्य ही माना जायेगा कि इतने प्रकांड विद्वान की समस्त कृतियों का संकलन आज तक नहीं हो सका है। कहानियाँ भी उन्होंने केवल तीन ही लिखीं थीं—'सुखमय जीवन', 'बुद्धू का काँटा' और 'उसने कहा था'। 'उसने कहा था' ने उन्हें हिन्दी के अमर कहानीकारों में स्थान दिलवाया है और हिन्दी का साधारण पाठक उन्हें केवल एक कहानीकार के रूप में ही जानता है। वैसे हिन्दी में उनके तीन रूप हैं :—सम्पादक, निबन्धकार और कहानीकार। परन्तु हिन्दी में उनका कहानीकार रूप ही अधिक प्रसिद्ध एवं सम्मानित हुआ। गुलेरी स्वभाव से अध्ययन शील थे, लिखते बहुत कम थे परन्तु

उन्होंने जितना भी लिखा उसी ने उन्हें साहित्य में अमर बना दिया। कुछ समय पहले तक लोगों की यह धारणा थी कि उन्होंने केवल एक ही कहानी लिखी थी—'उसने कहा था' और उस एक ही कहानी ने उन्हें हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कहानी-लेखकों की पंक्ति में आसीन करवा दिया था। इस प्रकार एक ही कहानी द्वारा अमर पद प्राप्त कर लेने की हिन्दी में यह प्रथम और अद्वितीय घटना मानी जाती थी। जब उनकी उपर्युक्त दो अन्य कहानियाँ अभी कुछ वर्ष पहले उनके सुपुत्र द्वारा प्रकाशित की गईं तब भी उनकी कीर्त्ति का आधार-स्तम्भ 'उसने कहा था' ही बनी रही क्योंकि उनकी अन्य दोनों कहानियाँ कला, प्रभाव आदि की दृष्टि से उतनी उत्कृष्ट सिद्ध नहीं हो सकीं जितनी कि यह कहानी थी।

काल-क्रमानुसार उनकी कहानियों में 'सुखमय जीवन' का प्रथम, 'बुद्धू का काँटा' का द्वितीय तथा 'उसने कहा था' का तृतीय स्थान माना जाता है। उनकी कहानी-कला इनमें अत्यन्त तीव्र गति के साथ परिपक्वता की ओर उन्मुख हुई है और 'उसने कहा था' में कला-सौन्दर्य के सर्वोच्च स्थान पर जा पहुँची है। आज इसकी गणना विश्व की चुनी हुई सर्वश्रेष्ठ कहानियों मे की जाती है। इसका प्रकाशन सन् १९१५ में 'सरस्वती' में उस समय हुआ था जब प्रथम विश्व-युद्ध (१९१४–१८) अपनी भयानकता की चरम सीमा पर पहुँच चुका था। यह हिन्दी की पहली कहानी थी जिसमें गुलेरी ने विश्वयुद्ध के एक विदेशी-रणक्षेत्र का वर्णन करते हुए उन असंख्य, अपरिचित सैनिकों के जीवन के कोमल, करुण, त्यागमय पक्षों की ओर पाठकों की सहानुभूति और संवेदना आकर्षित की थी। इस कारण विषय की नवीनता के क्षेत्र में इस कहानी का ऐतिहासिक महत्व माना जा सकता है।

'उसने कहा था' कहानी के सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल ने एक सजग-प्रखर आलोचक की भाव-विभोर शब्दावली में लिखा था—

"संस्कृत के प्रकांड प्रतिभाशाली विद्वान, हिन्दी के अनन्य आराधक श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की अद्वितीय कहानी 'उसने कहा था' सं० १९७२ अर्थात् सन् १९१५ की 'सरस्वती' में छपी थी। इसमें पक्के यथार्थवाद के बीच, सुरुचि की चरम मर्यादा के भीतर, भावुकता का चरम उत्कर्ष अत्यन्त निपुणता के

साथ संपुटित है। घटना इसकी ऐसी है जैसी बराबर हुआ करती है पर उसके भीतर से प्रेम का एक स्वर्गीय स्वरूप झांक रहा है—केवल झांक रहा है, निर्लज्जता के साथ पुकार या कराह नहीं रहा। कहानी भर में कहीं प्रेम की निर्लज्ज प्रगल्भता, वेदना की वीभत्स विवृति नहीं है। सुरुचि के सुकुमार से सुकुमार स्वरूप पर कहीं आघात नहीं पहुँचता। इसकी घटनायें ही बोल रही हैं, पात्रों के बोलने की अपेक्षा नहीं।"

गुलेरी की इस कहानी में आचार है, व्यवहार है, शृङ्गार है और संयम भी है। मानव-मन की छायानुभूतियाँ भी हैं और जीवन की मांसल अनुभूतियाँ भी हैं। उनके शृङ्गार-सम्बन्धी विचार पूर्ण स्वस्थ और स्पष्ट हैं। उनमें न तो कहीं दमित वासनाओं का उश्रृङ्खल रूप दिखाई पड़ता है और न घुटन। दूसरी ओर द्विवेदी-युग के कहानीकार होते हुए भी उनमें न तो कहीं उपदेश देने की प्रवृत्ति लक्षित होती है और न बँधी-बँधाई इतिवृत्तात्मकता ही। उनका मार्ग उपर्युक्त सभी संकीर्ण मान्यताओं एवं पद्धतियों से सर्वथा मुक्त, स्वच्छन्द और मौलिक था। उन्होंने उस उपदेश-प्रधान युग में मानव मन का सूक्ष्म विश्लेषण कर विकास-युग के उस प्रथम चरण में मनोविज्ञान की सार्थकता, शक्ति और सम्भावनाओं का वह संकेत दिया था जो उनके लगभग दो दशाब्दियों पश्चात् हिन्दी-कहानी-क्षेत्र में चरितार्थ हुआ। उनकी तीनों कहानियाँ प्रेम और कर्त्तव्य को ही अपना आधार-बिन्दु मान कर चली हैं। प्रेम और कर्त्तव्य के इस पवित्र संगम का चित्रण करने में उनके कदम कहीं भी नहीं डगमगाये हैं। उन्होंने स्वस्थ मन से जीवन-सम्बन्धी कृत्रिम मानों की पूर्ण उपेक्षा कर सर्वथा स्वाभाविक एवं प्राकृतिक जीवन-मानों का रस, विवेक और विचार तीनों तत्वों के सानुपातिक मिश्रण द्वारा चित्रण किया है। इस चित्रण में बहिर्मुखता और अन्तर्मुखता का वांछित संयोग है। और उसमें उनका विवेक अधिक प्रबल न होकर अनुभूति की ही विजय रही है। अनुभूति की इसी स्थिरता ने उनकी कहानी 'उसने कहा था' को अमर पद प्रदान किया है। और उनकी यह अनुभूति सर्वत्र मानव की सामाजिक चेतना से अनुप्राणित और उसके द्वन्द्वों से आक्रान्त रही है। उन्होंने मानव-मन की उन्हीं सुप्त भावनाओं को झकझोरा है जो चिरन्तन सत्य हैं, अजर और अमर हैं।

इसी कारण अनुभूति, मनोविश्लेषण, शैली, शिल्प और प्रभाव की एकता की दृष्टि से गुलेरी की यह अमर-कहानी उनके परवर्ती कहानी-लेखकों के लिए एक आदर्श, एक प्रेरणा और भविष्य की अद्भुत सम्भावनाओं की प्रतीक बन गई थी।

गुलेरी संस्कृत के प्रकांड विद्वान थे परन्तु शास्त्रीय मान्यताओं को उन्होंने अपने कथा-साहित्य में कहीं भी प्रश्रय नहीं दिया। वे स्वभाव से स्वतंत्र विचारक थे इसी कारण उनका कथा-साहित्य उनके पांडित्य की गम्भीरता से बोझिल बनने से बचा रहा। पंडित परन्तु स्वतंत्र विचारक अपनी गम्भीरता में भी हास्य और व्यंग्य का पुट देकर उसे नीरस, क्लिष्ट और बोझिल होने से बचा लेते हैं। आचार्य शुक्ल और गुलेरी इसी श्रेणी के विद्वान एवं विचारक थे। जिस प्रकार आचार्य शुक्ल हास्य एवं व्यंग्य के मधुर, तीखे छींटों द्वारा अपने विचार-क्लिष्ट निबन्धों में सरसता उत्पन्न कर देने में पटु थे उसी प्रकार गुलेरी अपनी कहानियों को सुमधुर, शिष्ट एवं सरस हास्य के छींटों द्वारा विचार-भाराक्रान्त होने से बचा लेते हैं। परन्तु इस हास्य या व्यंग्य में कहीं भी कुढ़न या द्वेष का आभास नहीं मिलता। डा० नगेन्द्र ने गुलेरी के हास्य के सम्बन्ध में लिखा है—

"वास्तव में उनका हास्य एक ऐसे व्यक्ति का हास्य है जिसके हृदय में जीवन के प्रत्येक सुख से सहानुभूति है, जो विकृतियों में भी अद्भुत वैचित्र्य और आकर्षण पाता है, जिसके हृदय में किसी प्रकार का दम्भ या मेल नहीं है और जो खुलकर हँसता है।" गुलेरी जानबूझ कर हास्य की सृष्टि नहीं करते, केवल उसकी व्यंजना कर देते हैं। परिस्थितियों के बीच-बीच उनका हास्य स्वतः ही अत्यन्त स्वाभाविक आकर्षण के साथ खिल उठता है। जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण पूर्ण स्वस्थ और मानवीय है। वे न तो आदर्शवाद की भूल-भुलैयों में भटकते हैं और न यथार्थवाद की विषाक्त कटुता को ही अपनाते हैं। उनका अपना जीवन एक पूर्ण सन्तुष्ट और सुखी जीवन था। उनकी कहानियाँ भी सामाजिक मर्यादाओं के भीतर उसी सुख एवं सन्तोष का चित्रण करती हैं।

कहानी-कला की दृष्टि से गुलेरी की उपर्युक्त तीनों कहानियों में उनकी

कला का उत्तरोत्तर पूर्णता की ओर अग्रसर होता हुआ विकास दिखाई पड़ता है। तीनों ही कहानियाँ सामाजिक हैं। प्रेम और कर्त्तव्य उनकी मुख्य संवेदनायें हैं। तीनों का कथानक इन्हीं मुख्य संवेदनाओं का चित्रण करता है। उनकी प्रथम कहानी 'सुखमय जीवन' एक व्यक्ति और एक परिवार के सीमित दायरे में बँधे हुए कथानक को लेकर चलती है। इसमें एक प्रकार से प्रेम और कर्त्तव्य की भावनाओं को उनके यथार्थ रूप में चित्रित करने का लेखक ने प्रथम एवं प्रारम्भिक प्रयोग किया है। इसमें अपरिपक्वता है। कथा रूप के आकर्षण और रोमांस के माध्यम से आगे बढ़ती है। इसमें प्रेम अपने वाह्य रूप में ही आ सका है और कर्त्तव्य का केवल जन्म हुआ है। प्रधानता प्रेम की ही रही है। दूसरी कहानी 'बुद्धू का काँटा' में पहले कर्त्तव्य आता है और फिर प्रेम। प्रेम भी अव्यक्त और असाधारण ढंग से विकसित होता है। नायक में हीनत्व भावना का प्राधान्य होने के कारण नायिका को प्रेम के क्षेत्र में पहल करनी पड़ती है। कथानक के विकास की दृष्टि से पहली कहानी के कथानक में कोई नवीनता नहीं दिखाई पड़ती। दूसरी कहानी का कथानक पहली की तुलना में अधिक प्रौढ़ है। तीसरी कहानी 'उसने कहा था' में कथानक का अत्यन्त प्रौढ़ और चरम विकसित रूप मिलता है। इसमें पहले प्रेम आता है और उसके पश्चात् कर्त्तव्य का उदय होता है। प्रेम और कर्त्तव्य दोनों ही अपने उज्ज्वल और कलात्मक रूप में चित्रित होते हैं। प्रेम का प्रारम्भ सहज आकर्षण से होता है। आकर्षण धीरे-धीरे पवित्र प्रेम का रूप धारण कर लेता है और उसकी परिणति कर्त्तव्य के उज्ज्वलतम रूप में होती है। कालान्तर में सँयोग पुनः प्रेम को उभारता है परन्तु इस स्थिति पर आकर प्रेम विशुद्ध कर्त्तव्य का रूप धारण कर लेता है और उसकी चरम परिणति त्याग और आत्म-उत्सर्ग के सन्धि-विन्दु पर होती है।

गुलेरी ने अपने युग की कहानी-कला के अनुरूप कथानक के निर्माण एवं विकास में संयोगों और घटनाओं का ही उपयोग किया है। तीनों कहानियों का प्रारम्भ संयोगों द्वारा ही होता है। विकास संयोगों और घटनाओं के पारस्परिक सहयोग द्वारा होता है। ये संयोग और घटनायें प्रारम्भ से लेकर अन्त तक पाठकों की जिज्ञासा और कुतूहल को बराबर जाग्रत रखते हैं। चमत्कार

और रोचकता में भी बराबर वृद्धि होती चली जाती है । साथ ही संयोगों और घटनाओं के इस जाल में पात्रों के चरित्रों का विकास इस अद्भुत रूप से होता चलता है कि पाठक का ध्यान घटनाओं के आकर्षण से मुक्त होकर बरबस इस कलात्मक चरित्र-विकास की ओर खिंच जाता है । इन कहानियों में कथानक और चरित्र-विकास का ऐसा अद्भुत एवं कलात्मक सहयोग और सामंजस्य मिलता है कि उसके द्वारा कहानी के ये दोनों तत्व अपने चरम-विकास को प्राप्त होते हैं । कथानक और चरित्रों का प्रारम्भ भी संयोगों और घटनाओं द्वारा होता है और फिर अन्त भी इन्हीं के सहयोग से किया जाता है । 'उसने कहा था' कहानी में तो गुलेरी के कथानकों का चरम विकास अपने चरमोत्कृष्ट रूप में दिखाई पड़ता है । अपने कथानकों का निर्माण करने में गुलेरी ने संयोग और घटनाओं के अतिरिक्त जीवन तथा कर्मक्षेत्र का साधारण, वैयक्तिक तथा व्यापक रूप भी लिया है । 'उसने कहा था' में तो जीवन और कर्मक्षेत्र इतना व्यापक हो उठा है कि पच्चीस वर्ष का लम्बा समय तथा भारत से लेकर फ्राँस तक के लम्बे क्षेत्र को अपनी परिधि में समेट लेता है । इस व्यापकता के रहते हुए भी इन कहानियों में वर्णनात्मकता की अपेक्षा विविध भाव-चित्रों एवं चिन्तन शैली का ही प्राधान्य मिलता है जो कहानी के उस युग में एक सर्वथा मौलिक एवं नवीन देन थी । कहानी-कला की यह मौलिकता गुलेरी के पश्चात् बहुत समय तक फिर नहीं दिखाई पड़ी । इसी कारण 'उसने कहा था' को आलोचकों ने हिन्दी कहानी-कला का 'कोश स्तम्भ' (Mile Stone) माना है ।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भी गुलेरी अपने समय से काफी आगे रहे थे । उनके सम्पूर्ण चरित्र—पुरुष और नारी—पूर्ण मानवीय और यथार्थ हैं । गुलेरी ने इनका निर्माण व्यक्ति और समाज की मान्यताओं के आधार पर किया है । इनके चरित्रों की एक सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे पूर्ण वैयक्तिक होते हुए भी सामाजिक मान्यताओं की परिधि से कभी भी बाहर नहीं जाते । उनका प्रेम, कर्त्तव्य, त्याग, आत्मोत्सर्ग आदि सभी उनके अपने व्यक्तित्व से ओतप्रोत रहते हुए भी सदैव सामाजिक मान्यताओं को स्वीकृति प्रदान कर खिल उठते हैं । उनमें कहीं भी विद्रोह की भावना लक्षित नहीं होती । समाज से उनका

मधुर और घनिष्ठ सम्बन्ध जुड़ा रहता है। 'सुखमय जीवन' के जयदेव वर्मा और कमला, 'बुद्ध का कांटा' के रघुनाथ और भगवन्ती तथा 'उसने कहा था' के लहनासिंह और सूबेदारनी सभी का अपना-अपना विशिष्ट व्यक्तित्व है। उनमें स्वयं विचार और निर्णय करने की शक्ति है। वे कहीं भी लेखक के हाथ की कठपुतली न बनकर स्वतंत्र रूप से विकसित होते हैं। वे स्वयं अपने व्यक्तित्व के सहारे जीते हैं,न कि किसी के संकेत पर। क्योंकि गुलेरी मानवीय चरित्रों की अवतारणा तथा उनमें सहज व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा करने में पूर्ण सिद्धहस्त हैं। चरित्र-चित्रण की यह कला उस युग के किसी भी कहानीकार में नहीं मिलती। लहनासिंह के चरित्र में स्वाभाविकता, मानवीयता, व्यक्तित्व एवं आदर्श का जैसा सुखद सामंजस्य देखने को मिलता है वैसा अत्यन्त दुर्लभ ही है। लहनासिंह के इस आदर्शमय महान तथा परम मानवीय व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा से शोभित चरित्र के कारण ही यह कहानी अपने युग की सर्वश्रेष्ठ तथा सम्पूर्ण हिन्दी-कहानी साहित्य की सर्वश्रेष्ठ कहानियों में स्थान पाने की अधिकारिणी मानी गई है। "इसमें चरित्र-विकास चरित्र-विश्लेषण तथा व्यक्तित्व-प्रतिष्ठा तीनों पूर्ण कलात्मक ढंग से चरितार्थ हुए हैं।"

कथोपकथन सर्वत्र पात्र, परिस्थिति और स्थान के अनुकूल हैं। उनमें भाषा की स्वाभाविकता, प्रवाह एवं प्रभाव आदि सभी गुण मिलते हैं। कथोपकथनों का प्रयोग प्रायः कार्यों; व्यापारों के संकेतों के साथ किया गया है। साथ ही उनमें सहज विनोद, व्यंग्य और जीवन आदि अन्य सामान्य एवं स्वाभाविक तत्वों का भी समावेश हुआ है। कथोपकथन कथानक के विकास और चरित्रों के उद्घाटन में भी सहायता करते हैं।

वातावरण का निर्माण करने में गुलेरी सिद्धहस्त हैं। वे वर्णनों और कथोपकथनों की सहायता से वातावरण का ऐसा सवाक् चित्र प्रस्तुत करते हैं कि पाठक अपने को भूल कर स्वयं को उसी वातावरण में विचरण करता हुआ अनुभव करता है। वे वर्णन द्वारा वातावरण का निर्माण करते हैं, फिर उसमें पात्रों को रखकर, उनके वार्तालापों द्वारा उनके चरित्रों की रेखाओं को उभारते हैं। वातावरण चरित्रों का विकास करने में बहुत सहायता देता है।

उद्देश्य की दृष्टि से उपर्युक्त तीनों कहानियाँ अनुभूतिपरक न होकर

लक्ष्य-परक ही अधिक हैं। उनका निर्माण-धरातल लक्ष्य है न कि अनुभूति। लक्ष्य ही इन कहानियों की प्रमुख प्रेरणा है, अनुभूतियाँ तो केवल साधन रूप में आती हैं। परन्तु ये कहानियाँ लक्ष्यात्मक होती हुईं भी अनुभूतियों से ओत-प्रोत हैं। इनका मुख्य आधार सामाजिक चेतना है जिसमें समाज, व्यक्ति और वर्ग तीनों अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखते हुए भी आपस में इस प्रकार घुले मिले रहते हैं कि उन्हें एक दूसरे से पृथक् करके नहीं देखा जा सकता। आदर्श की प्रतिष्ठा, नीति और सदाचार की स्थापना तथा जीवन के उच्च मान स्थिर करना इन कहानियों का प्रमुख उद्देश्य रहा है। उन्होंने अपनी तीनों कहानियों में प्रेम और कर्त्तव्य की भूमि पर आदर्श की प्रतिष्ठा की है। संक्षेप में उनकी कहानियों का प्रधान लक्ष्य जीवन के प्रति एक स्वस्थ दृष्टिकोण प्रदान करना, मानवीय अनुभूतियों को जाग्रत करना तथा चरित्र के आदर्श की प्रतिष्ठा करना रहा है।

अपने इस लक्ष्य को प्राप्त करने में गुलेरी को सबसे अधिक सहायता अपनी भाषा और शैली द्वारा मिली है। संस्कृत तथा अन्य प्राचीन भाषाओं के मर्मज्ञ होते हुए भी उन्होंने अपनी भाषा का रूप सर्वत्र एवं सदैव जन-सुलभ, साधारण, सरल और सरस ही रखा है। उसमें कहीं भी संस्कृत शब्दावली की क्लिष्टता नहीं मिलती। भाषा की इस स्वाभाविकता के मूल में भाषा-विद् गुलेरी की अद्‌भुत भाषा-विज्ञता का चमत्कार था। उन्हें भारत की प्रायः समस्त प्रादेशिक भाषाओं और बोलियों का ज्ञान था। यही कारण है कि उन्होंने अपनी भाषा को कहीं भी अपने पांडित्य से आक्रान्त नहीं होने दिया है। उसमें पूर्ण स्वाभाविकता और प्रवाह है। सर्वत्र पात्र और परिस्थिति के अनुरूप ही भाषा का प्रयोग हुआ है। इससे वर्णनों में एक अद्‌भुत स्वाभाविकता और जीवन आ गया है। तत्सम् शब्दों से उन्होंने अपनी भाषा को भरसक बचाया है। परन्तु उनकी इस साधारण, व्यावहारिक भाषा में विलक्षण वक्रता, सौष्ठव और आकर्षण है जो साधारण एवं प्रबुद्ध, दोनों ही श्रेणी के पाठकों को प्रारम्भ से अन्त तक अपने आकर्षण के जाल में बाँधे रहती है। उसमें आवश्यकतानुसार संस्कृत, उर्दू और अंग्रेजी के तत्सम् और तद्‌भव दोनों ही प्रकार के शब्दों का सुन्दर प्रयोग होता है। और इनसे उनके भाषा-सौन्दर्य में चार चाँद लग जाते

है। संक्षेप में उनकी भाषा भावानुकूल और पूर्ण व्यावहारिक रहती है। उसमें भाव-व्यंजना और लाक्षणिक प्रयोगों के सुन्दर उदाहरण मिलते हैं तथा स्फूर्ति और गम्भीरता का अद्भुत सामंजस्य पाया जाता है। प्रवाह और प्रभाव दोनों ही उनकी भाषा के प्रधान गुण माने जा सकते हैं।

शैली की दृष्टि से इनकी कहानियों में उत्तरोत्तर विकास होता चला गया है। 'उसने कहा था' कहानी का नवीन शिल्प-विधान अपने युग का आदर्श माना गया था। इस शिल्प-विधान में कहानी का आदि, मध्य और अन्त तीनों की योजना पूर्ण कलात्मक और सुगठित रहती है। इनकी कहानियों का आरम्भ भूमिकाओं से होता है। यह भूमिका या पृष्ठभूमि कहानी से घनिष्ठ रूप से जुड़ी होनी चाहिए। परन्तु गुलेरी की पहली दो कहानियों की भूमिकाएँ इस दृष्टि से बड़ी शिथिल और मुख्य कहानी से असम्बद्ध सी रही हैं। कलात्मक दृष्टि से ये प्राय: असंगत और विस्तृत होगई हैं। इनका कहानी की मूल संवेदना से कोई अप्रत्यक्ष या प्रत्यक्ष संबंध नहीं बैठ पाता। परन्तु अन्तिम कहानी 'उसने कहा था' की भूमिका सर्वथा कलात्मक और कहानी की मुख्य संवेदना के साथ घनिष्ठ रूप से जुड़ी हुई है। यह कहानी की पृष्ठभूमि का निर्माण कर प्रारम्भ से ही आकर्षण और जिज्ञासा की सृष्टि कर देती है। साथ ही उससे देश, काल और परिस्थिति का आंशिक चित्रण भी हो जाता है।

इन कहानियों का मध्य भाग इनका विकास-भाग है। यह विकास प्रमुखत: संयोगों से तथा विविध कार्यों, वर्णनों और विवेचनाओं के माध्यम से किया गया है। इनके द्वारा निरन्तर जिज्ञासा और कुतूहल में वृद्धि होती जाती है। विकास-क्रम में एक सूत्रता रहती है। 'उसने कहा था'—का विकास भाग कहानी कला का उत्कृष्ट उदाहरण है। विविध वर्णनों और व्यवस्थाओं के बीच से कार्य-घटनाओं की योजना तथा इन सबके ऊपर स्मृति-चित्रों के माध्यम से कहानी का पूर्ण विकास, आरम्भ भाग तथा व्यक्ति की मनःस्थिति का सुन्दर विश्लेषण आदि सब तत्वों को एक सूत्र में अपूर्व कलात्मक ढङ्ग से बाँधा गया है। इस विकास में सर्वत्र रोचकता बनी रहती है। और इस रोचकता के साथ कहानी अपने चरम बिन्दु पर पहुँच जाती है।

इन चरमसीमाओं का निर्माण संयोग और घटना दोनों के माध्यम से होता

है जो मानव-प्रकृति तथा मनोविज्ञान का पूर्ण एवं मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत करती हैं। और यहीं आकर कहानी का अन्त हो जाती है। गुलेरी अपनी कहानी को चरम विन्दु से आगे न बढ़ाकर वहीं समाप्त कर देते हैं। इससे उसका प्रभाव अधिक तीव्र और स्थायी बन जाता है। 'उसने कहा था' की अन्तिम पंक्तियों में उपसंहार का सा आभास मिलता है परन्तु उससे कहानी की प्रभविष्णुता कम न होकर उसकी तीव्रता अधिक स्पष्ट हो जाती है।

प्रेमचन्द

प्रेमचन्द उपन्यास-सम्राट् तो थे ही, साथ ही उन्हें हिन्दी का कहानी-सम्राट् भी माना जाना चाहिए। प्रेमचन्द जितने बड़े उपन्यासकार थे, उससे कम-से-कम बीस गुने बड़े वे कहानीकार थे—दृष्टिकोण में, शिल्प-विधान में, सभी में उनकी कहानियाँ जितनी उच्च कोटि की बन पड़ी हैं, उतने उनके उपन्यास नहीं। इसका कारण यह है कि अपने उपन्यासों में तो प्रेमचन्द की विभिन्न विचार धाराएँ क्रमशः विकास पाती रहीं हैं, उन्होंने नए-नए प्रयोग किए हैं परन्तु उनकी कहानियों में उनका वह अनवरत संघर्ष शील जीवन प्रतिम्बित हुआ है जो उन्होंने जीवन भर भोगा था, सहा था। उनकी उसी जीवन की आत्मानुभूति उनकी कहानियों के माध्यम से व्यक्त हुई है। प्रेमचन्द का जीवन गरीबी, अध्यवसाय, संघर्ष, त्याग और भयंकर सांसारिक एवं मानसिक संकटों से ओतप्रोत रहा था। यहाँ हम उनका विस्तृत जीवन-परिचय न देकर डा० सत्येन्द्र के शब्दों में उनके जीवन-चरित्र का एक रेखा-चित्र प्रस्तुत करना ही यथेष्ठ समझेंगे।

प्रेमचन्द ने अपनी आत्म-कहानी के प्रारम्भ में लिखा है कि—"मेरा जीवन सपाट, समतल मैदान है, जिसमें कहीं-कहीं गढ़े तो हैं, पर टीले, पर्वतों घने जंगलों, गहरी घाटियों और खड्डों का स्थान नहीं है।" इस पर टिप्पणी, करते हुए डा० सत्येन्द्र ने लिखा है—

"जिस व्यक्ति की माता का देहान्त सात वर्ष की अवस्था प्राप्त करते-करते हो जाय और विमाता के कठोर शासन का कटु-सुख भोगना पड़े। सोलह वर्ष के लगभग पिता ने अपना हाथ जिसके ऊपर से उठा लिया, जिसे

पन्द्रह वर्ष की अवस्था में विवाह-बन्धन में बाँध दिया गया, जिससे सन्तोष न पाकर जिसे उसकी जीवित अवस्था में ही बहुत कुछ सोच-विचार के पश्चात् बिना आवेगों का शिकार बने, एक विधवा से विवाह करने को अग्रसर होना पड़े, जिसने रो-धोकर, ले-देकर कष्टों और आपत्तियों को काटते हुए मैट्रिक की परीक्षा पास की हो, जिसके पारिवारिक जीवन की यही कुछ मोटी-मोटी घटनायें हों—माता की मृत्यु, अपना विवाह, पिता की मृत्यु, अपना विधवा से विवाह, फिर सरकारी नौकरी और उसे छोड़ प्रेस और लेखन-व्यवसाय—निश्चय ही बाहरी जीवन उसका सपाट कहा जायेगा !—कुछ गड्ढे हों; पर जिसे हम लेखक कहते हैं, वहाँ, जहाँ का प्रेमचन्द इस पंच-तत्व के पुतले के भीतर किसी मानस-लोक में ही जन्म ग्रहण करता है और जिससे यह मिट्टी का शरीर सम्मान का भागी हो पाता है, उस प्रेमचन्द के जीवन में पर्वत और जङ्गलों की भरमार दीखती है, गहरी घाटियों, खाइयों, खन्दकों का वहाँ अभाव नहीं—और इसे सभी देखने वालों ने उनके सौम्य मुख की विषादयुक्त झुर्रियों में सम्भवत: देखा भी।"

जीवनव्यापी इस अथक संघर्ष के कर्मठ एवं साहसी योद्धा प्रेमचन्द के स्वभाव एवं व्यवहार में रंचमात्र भी शुष्कता और नीरसता नहीं आ पाई थी। उनका सम्पूर्ण जीवन कर्मक्षेत्र के एक सच्चे त्यागी और तपस्वी व्यक्ति का था। इसी कारण उनका सम्पूर्ण व्यक्तित्व कोमल, सौम्य एवं स्निग्ध बन गया था। वे काम करते समय, सब कुछ भूलकर, भूत की तरह जुट कर काम करते थे, मन जन के समय दिल खोलकर हँसते थे। उन्होंने स्वयं लिखा है—"जीवन को सुखी बनाना ही भक्ति और मुक्ति है; यदि तुम हँस नहीं सकते, रो नहीं सकते, तो तुम इन्सान नहीं हो।" हास्य और रुदन से मुक्त रहने वाला व्यक्ति विचारक हो सकता, सन्यासी बन सकता है परन्तु सच्चा इन्सान नहीं बन सकता, कलाकार बनना तो असम्भव ही है। प्रेमचन्द ऐसे ही सच्चे इन्सान और कलाकार थे जो अपने और दूसरों के सुख, आनन्द तथा अपने दुख पर हँसते थे और दूसरों का दुख देख कर रोते थे। उनके दृष्टिकोण से जीवन का अभिप्राय रोना नहीं अपितु हँसना था। इसलिए मुसीबतों के बावजूद वे खुद हँसते थे और दूसरों को भी हँसाते थे। रोना उन्हें दूसरों का कष्ट देखकर ही

आता था। प्रेमचन्द की यह हँसी उनके सम्पूर्ण साहित्य में बिखरी पड़ी है। उनके पात्र भी जीवन की गहनतम विषम परिस्थितियों में दिल खोलकर हँसते हैं। ऐसे प्रेमचन्द हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कहानीकार माने जाते हैं।

प्रेमचन्द ने कहानी लिखना उर्दू में प्रारम्भ किया था और वह भी अनूदित कहानियों द्वारा। पहले उन्होंने रवीन्द्र बाबू की कई कहानियों के अनुवाद किए और फिर स्वयं मौलिक कहानियाँ लिखना प्रारम्भ कर दिया। उनकी सबसे पहली मौलिक कहानी कानपुर के 'ज़माना' नामक उर्दू पत्र में सन् १९०७ में निकली थी। इसका शीर्षक था—'संसार का सबसे अनमोल रत्न'। इसके उपरान्त उन्होंने थोड़ी सी कहानियाँ और लिखकर अपना सर्व प्रथम उर्दू कहानी-संग्रह 'सोजे वतन' के नाम से प्रकाशित करवाया। इस संग्रह की कहानियों ने सरकार एवं जनता, दोनों का ही ध्यान अपनी राष्ट्रीय भावना के कारण समान रूप से आकर्षित किया था। और परिणाम यह निकला कि सरकार ने इस संग्रह को जब्त कर इसकी सारी प्रतियाँ जलवा डालीं। यह ऐसा जघन्य कार्य था जैसे किसी माँ के सामने उसके लाल की हत्या कर दी जाय। इस संग्रह पर लेखक का नाम 'नवाबराय' था क्योंकि प्रेमचन्द तब तक 'प्रेमचन्द' नहीं बने थे। इस पर जमाना के सम्पादक मुंशी दया नारायण निगम ने उन्हें सुझाव दिया कि वे 'प्रेमचन्द' के छद्म नाम से लिखना प्रारम्भ कर दें। प्रेमचन्द ने इस नाम-परिवर्तन को स्वीकार तो कर लिया परन्तु इससे उन्हें बड़ी मानसिक वेदना पहुँची। उन्होंने बहुत दुखी होकर निगम साहब को लिखा—

"प्रेमचन्द नाम अच्छा है, मुझे भी पसन्द है। अफसोस सिर्फ यह है, कि पाँच-छः साल में 'नवाबराय' को फिरोग देने (प्रसिद्ध करने) की जो मेहनत की गई वह सब अकारथ गई। यह हजरत किस्मत के हमेशा लंडूरे रहे और शायद रहेंगे।"

प्रेमचन्द सन् १९१५ तक बराबर उर्दू में लिखते रहे और हिन्दी में उन्होंने १९१६ में पदार्पण किया। उन्होंने उर्दू और हिन्दी में कुल मिलाकर क्रमश: १७८ तथा २५० कहानियाँ लिखीं जो विभिन्न संग्रहों में प्रकाशित हुई हैं। उनके उर्दू कहानी-संग्रहों की तालिका निम्नलिखित है—

१—सोज़े वतन, २—प्रेम पचीसी, ३—प्रेम बत्तीसी, ४—प्रेम चालीसा, ५—फिरदोसे ख्याल, ६—जादेराह, ७—दूध की कीमत, ८—वारदात, ९—आखिरी तोहफा, १०—ख्वाबो खयाल, ११—खाँ के परवाना, १२—नजात और १३—पारवाज खयाल।

उनके हिन्दी कहानी-संग्रहों की संख्या उर्दू की तुलना में ठीक दूनी है—

१—सप्त सरोज, २—नवनिधि, ३—प्रेम पचीसी, ४—प्रेम पूर्णिमा, प्रेम द्वादशी, ६—प्रेमतीर्थ, ७—प्रेम पीयूष, ८—प्रेम कुंज, ९—प्रेम चतुर्थी, १०—पंच प्रसून, ११—सप्त सुमन, १२—कफन, १३—मान सरोवर (पाँच भाग), १८—प्रेम प्रतिमा, १९—प्रेरणा २०—प्रेम प्रमोद, २१—प्रेम सरोवर, २२—कुत्ते की कहानी, २३—जंगल की कहानियाँ, २४—अग्नि समाधि, २५—प्रेम पंचमी, तथा २६—प्रेम गङ्गा। इन संग्रहों में कुल मिलाकर २५० कहानियाँ संग्रहीत हैं। इस संख्या में उर्दू की १७८ कहानियाँ जोड़ देने से प्रेमचन्द की कुल कहानियों की संख्या ४२८ हो जाती है जो संख्या की दृष्टि से हिन्दी में सम्भवत: सबसे बड़ी संख्या नहीं तो कम से कम सबसे बड़ी संख्याओं में अवश्य है। आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने साढ़े चार सौ कहानियाँ लिखीं थीं।

प्रेमचन्द के कहानी-क्षेत्र में आने से पूर्व हिन्दी कहानी के सामने भावुकता, रहस्यरोमांच, दर्शन आदि अनेक प्रकार के विकल्प आ चुके थे। चन्डी प्रसाद 'हृदयेश' की अपार भावुकता से लेकर गोपालराम गहमरी की जासूसी और तिलिस्मी कहानियों में से कोई मार्ग चुना जा सकता था। उस समय बहुत कम कलाकार ऐसे थे जो कहानी-कला की सम्भावनाओं के विषय में काफी दूर तक सोच पाते थे। इसी समय एक नए विश्वास के साथ प्रेमचन्द ने कहानी को अपनी विचारधारा एवं अनुभूति को प्रकट करने का माध्यम चुना। उन्होंने कहानी को एक साधारण सी शैली से ऊपर उठाकर जीवन के संघर्षों को व्यक्त करने के लिए एक प्रभावशाली अस्त्र बनाया। कहानी की सामाजिक उपयोगिता का उद्देश्य उभर कर सामने आने से पूर्वोक्त सारे विकल्प मिट गए। कहानी हमारी सामाजिक समस्याओं को मूर्त्त रूप देने का सबसे सबल साधन बन गई। प्रेमचन्द जनता के लेखक थे। इसलिए उन्होंने इस नवीन साधन द्वारा सहस्त्रों

मूक, दीन, दलित किसानों और मजदूरों का प्रतिनिधित्व किया जो पहले साहित्य में एक प्रकार से अछूत माने जाते थे। प्रेमचन्द ने ही सबसे पहले समाज के इस उपेक्षित वर्ग के दर्द और समस्याओं को उनके वास्तविक रूप में समझा और पूर्ण सहानुभूति एवं सहृदयता के साथ अपने साहित्य में उसका चित्रण किया। प्रेमचन्द की कहानियों में समाज के इस उपेक्षित वर्ग की विभिन्न समस्याओं के खंड-चित्र अपनी मर्म स्पर्शिता के साथ साकार हो उठे।

यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि प्रेमचन्द ने इन समस्याओं का चित्रण तो अपने उपन्यासों में भी किया है फिर उन्होंने इन्हीं समस्याओं को अपनी कहानियों में पुन: क्यों चित्रित किया ? इसके उत्तर के लिए कहानी-कला विषयक प्रेमचन्द के मन्तव्य को देखना आवश्यक है जो इस प्रकार है—
"कहानी (गल्प) एक रचना है, जिसमें जीवन के किसी एक अङ्ग या किसी एक मनोभाव को प्रदर्शित करना ही लेखक का उद्देश्य रहता है। उपन्यास की भाँति उसमें मानव-जीवन का सम्पूर्ण तथा वृहद् रूप दिखाने का प्रयास नहीं किया जाता। न उसमें उपन्यासों की भाँति सभी रसों का सम्मिश्रण ही होता है। वह एक रमणीय उद्यान नहीं जिसमें भाँति-भाँति के फूल, वेल बूटे सजे हुए हैं, बल्कि एक ऐसा गमला है जिसमें एक ही पौधे का माधुर्य अपने समुन्नत रूप में दृष्टिगोचर होता है।"

उपन्यास में जीवन का विस्तृत क्षेत्र एवं उसकी अगणित समस्यायें अंकित रहती हैं जिनका पाठक के ऊपर एक सामूहिक प्रभाव पड़ता है। वहाँ लेखक की दृष्टि किसी एक समस्या-विशेष की गहराई तक नहीं जा पाती। इसके विपरीत कहानी जीवन का एक ऐसा खंड चित्र होती है जो सम्पूर्ण जीवन की व्याख्या न कर उसके एक घनीभूत क्षण (Frozen moment) को, उसकी एक विशिष्ट समस्या को उसकी पूरी गहराई एवं घनत्व के साथ चित्रित कर देती है। जब ऐसा चित्र अपने सम्पूर्ण घनत्व के साथ कहानी के रूप में पाठकों के सामने आता है तो पाठक उसे देखकर अभिभूत हो उठता है। कहानी का प्रभाव मुक्तक के प्रभाव के समान ही अपने प्रभाव की पूर्णता में सीमित एवं स्थायी रहता है। यही कहानी की सबसे बड़ी सफलता और प्रभाव माना जा

सकता है। प्रेमचन्द ने कहानी की इसी शक्ति को लक्ष्य कर उसे जीवन के मार्मिक खंडचित्रों के उद्घाटन करने का साधन बनाया था।

प्रेमचन्द-साहित्य के कुछ आलोचक प्रेमचन्द को एक श्रेष्ठ कहानीकार की अपेक्षा एक श्रेष्ठ उपन्यासकार ही अधिक मानते हैं। डा० रामविलास शर्मा का भी यही मत है कि—"कहानी की परिधि उन्हें अपनी प्रतिभा का पूरा कर्त्तव्य दिखाने से रोकती थी।" परन्तु वस्तुस्थिति यह है कि उपन्यासकार प्रेमचन्द कहानीकार प्रेमचन्द की तुलना में फीके से पड़ जाते हैं। दृष्टिकोण में, शिल्प-विधान में, सभी में उनकी कहानियाँ उनके उपन्यासों की तुलना में अधिक कलात्मक और उच्चकोटि की बन पड़ी हैं। इनकी कहानियों में श्रेष्ठ कहानी के सभी गुण विद्यमान हैं। लक्ष्य या उद्देश्य के प्रति प्रभावोत्पादक, सांकेतिक एवं चुभता हुआ मर्मस्पर्शी अन्त, स्वाभाविक सशक्त मानसिक अवस्थाओं का चित्रण, समाज के विभिन्न वर्गों, मनोवृत्तियों आदि पर प्रकाश डालना, आदि श्रेष्ठ कहानियों के सभी गुण प्रेमचन्द की कहानियों में मिल जाते हैं। समाज की जितनी अवस्थाएँ और जितने ऊँचे-नीचे स्तर उनकी कहानियों में आए हैं उतने उनके उपन्यासों में ही नहीं बल्कि हिन्दी के किसी भी कहानीकार में नहीं मिलते। उनकी उर्दू-हिन्दी की लगभग सवा चार सौ कहानियों में व्यक्ति और समाज की लगभग उतनी ही अवस्थायें मिलती हैं। प्रेमचन्द ने प्रत्येक कहानी में एक नई समस्या या अवस्था का चित्रण किया है। उन सभी को एकत्र कर देने पर भारतीय व्यक्ति एवं समाज का एक पूरा चित्र—सवाक चित्र—उपस्थित हो जाता है। स्त्री जीवन के विविध रूप पत्नी, माता, पुत्री, विधवा, भिखारिणी, वेश्या, कुललक्ष्मी, जन-सेविका, महारानी, मजदूरनी, तथा प्रेमिका का रूप स्पष्ट हो जाता है। इसके अलावा पूँजीपति, क्लर्क, मजदूर, किसान, पुलिस, दरोगा, मुंशी, पटवारी, पंडित, महन्त, लेखक, सम्पादक, यहाँ तक कि कुत्ते और बैल तक उनकी सर्वग्रासिनी व्यापक दृष्टि की परिधि में आ गए हैं। राजनीति, धर्म, समाज, अर्थ-नीति, पाखंड, मनोविज्ञान आदि कोई भी विषय उनकी लेखनी से नहीं बच पाया है।

कमोवेश यही चित्रण उनके उपन्यासों में भी मिलता है परन्तु कहानियों

में उन्होंने किसी एक ही समस्या को गहराई के साथ उठाया है। जनता में उनकी कहानियाँ उनके उपन्यासों की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय हैं। कथाकार प्रेमचन्द अपने उपन्यासों तथा कहानियों दोनों ही कथा-रूपों में अपने उत्कृष्टतम रूप में विद्यमान हैं। परन्तु कहानी-कला के अपने विशिष्ट गुणों के कारण उनकी कहानियाँ अधिक प्रभावोत्पादक, सशक्त और गठी हुई बन पड़ी हैं। प्रेमचन्द को निस्संकोच संसार के सर्वश्रेष्ठ कहानीकारों के समकक्ष बैठाया जा सकता है और बैठाया गया है।

प्रेमचन्द की पहली कहानी 'संसार का सबसे अनमोल रत्न' १९०७ छपी थी और अन्तिम कहानी 'दो बहनें' सन् १९३६ में दिल्ली से प्रकाशित होने वाली 'इस्मत' नामक पत्रिका में छपी थी। २९ वर्ष के इस लम्बे समय में प्रेमचन्द की कहानियाँ निरन्तर निखार पाती रहीं। उनमें उनकी विचारधारा परिपक्व होती रही। प्रेमचन्द जन-जन के लेखक थे। साधारण जन के प्रति उनके हृदय में अपार ममता एवं उच्च वर्ग के प्रति भयानक आक्रोश था। देशभक्ति की जिस भावना के कारण उनका प्रथम कहानी-संग्रह 'सोज़े वतन' सरकार द्वारा जब्त कर जला दिया गया था, वही भावना नया रूप धारण कर, अधिक उग्रता के साथ उनकी अन्तिम कहानी में प्रकट हुई थी। इस कहानी का एक पात्र कहता है—

"जितने धनी हैं, वे सबके सब लुटेरे हैं, पक्के लुटेरे, डाकू। कल मेरे पास रुपए हो जांय और मैं एक धर्मशाला बनवा दूं। देखिए, मेरी कितनी वाहवाह होती है। कौन पूछता है, मुझे दौलत कहाँ से मिली।"

प्रेमचन्द का उपर्युक्त मत आज के समाज पर कितनी सच्चाई के साथ लागू होता है इसे प्रत्येक सजग पाठक अच्छी तरह समझ सकता है।

प्रेमचन्द २९ वर्ष के इस लम्बे समय तक चिन्तन करते-करते इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि सच्ची स्वतंत्रता तभी होगी जब समाज में धनी और निर्धन का भेद समाप्त हो जायेगा। वे अंग्रेजों के स्थान पर भारतीयों का राज्य हो जाना ही स्वतंत्रता की प्राप्ति नहीं मानते थे। शोषक वर्ग का अन्त ही उनका वास्तविक स्वतंत्रता का सच्चा स्वप्न था। विचारधारा के इस विकास की

मंजिल में उन्होंने सत्य के अगणित प्रयोग किए, सुधारवादी मार्ग अपनाये, मगर अन्त में उपर्युक्त निष्कर्ष में ही उन्हें सारी समस्याओं का हल मिला। प्रेमचन्द केवल राजनीतिक गुलामी के ही विरोधी नहीं थे अपितु वे सामाजिक और मानसिक गुलामी के भी उतने ही कट्टर दुश्मन थे। वे नीति, धर्म, कानून और सिद्धान्तों की तुलना में मनुष्य को श्रेष्ठ मानते थे। उनकी प्रत्येक कहानी में यही सत्य प्रतिभासित हो रहा है।

प्रेमचन्द की कहानियों में पाए जाने वाली उनकी विचारधारा के क्रमिक विकास का ब्योरा प्रस्तुत करते हुए पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने लिखा है कि- "उनकी कहानियाँ प्रारम्भिक सुधारवाद का छना रूप लेकर चलीं थीं। मध्य कालिक कहानियाँ राष्ट्रवाद के सर्व सामान्य रूप की पोषिका थीं और उत्तर कालिक कहानियाँ जनवाद (प्रोलिटेरियनिज्म) के भारतीय परिष्कृत रूप से ओत-प्रोत। उनकी प्रारम्भिक कहानियों में अतीत के चित्र भी हैं, पर आगे चल कर उन्होंने 'गढ़े मुरदे उखाड़ना' बन्द कर दिया।" इससे यह ध्वनि निकलती है कि प्रेमचन्द उत्तरोत्तर समाजवादी (मार्क्सवादी) होते चले गए थे। जीवन के कटु अनुभवों ने उन्हें यह बता दिया था कि मानव का कल्याण समाजवाद में ही निहित है। इसी कारण उनकी अन्तिम कहानियों में इसी विचारधारा का पोषण और दृढ़ समर्थन दिखाई पड़ता है।

प्रेमचन्द की कहानियों में जैसे-जैसे कला का निखार होता गया वैसे-ही-वैसे भाव और विचार की दृष्टि से भी उनमें परिपक्वता और गहराई आती चली गई। भाव और विचार की दृष्टि से उनकी प्रारम्भिक एवं अन्तिम कहानियों में पर्याप्त अन्तर आ गया था। पं० नन्ददुलारे वाजपेयी के अनुसार—

"भाव के क्षेत्र में प्रेमचन्द की प्रारम्भिक कहानियाँ भावना-प्रधान और आदर्शवादी हैं। वे प्रत्येक स्थिति में किसी ऊँचे आदर्श पर जाकर समाप्त होती हैं।... किन्तु आगे चलकर प्रेमचन्द की कहानियों में चित्रित परिस्थितियाँ और व्यक्त भावों के बीच गहरा सामंजस्य स्थापित हो गया है। अब उनके चित्रण अधिक मनोवैज्ञानिक, तथ्यपूर्ण और अकृत्रिम होने लगे।...जिन कहानियों में उन्होंने किसी आदर्श का चित्रण नहीं किया है...वहाँ भी परि-

स्थिति की विवशता के प्रति उनकी व्यंग्यात्मक दृष्टि परिलक्षित हुई है। उन कहानियों में भी मुख्य प्रभाव परिस्थिति के प्रति विद्रोह है।"

कुछ आधुनिक कला-शास्त्री प्रेमचन्द की कहानियों पर यह आक्षेप लगाते हैं कि उनमें मनोविज्ञान का सफल चित्रण नहीं हो पाया है। अज्ञेय, नगेन्द्र आदि की यही धारणा है। इस आक्षेप के निराकरण के लिए प्रेमचन्द के उन विचारों को उद्घृत कर देना ही पर्याप्त होगा जो उन्होंने "मैं कहानी कैसे लिखता हूँ" शीर्षक निबन्ध में प्रकट किए हैं। आप लिखते हैं—

"मेरे किस्से प्राय: किसी-न-किसी प्रेरणा अथवा अनुभव पर आधारित होते हैं।...मगर घटना मात्र का वर्णन करने के लिए मैं कहानियाँ नहीं लिखता। मैं उनमें किसी दार्शनिक और भावात्मक सत्य को प्रकट करना चाहता हूँ।...लेकिन कोई घटना कहानी नहीं होती, जब तक कि वह किसी मनोवैज्ञानिक सत्य को व्यक्त न करे।... घटना और पात्र तो मिल जाते हैं; लेकिन मनोवैज्ञानिक आधार कठिनता से मिलता है। यह समस्या हल हो जाने के बाद कहानी लिखने में देर नहीं लगती।" यह बात नहीं कि प्रेमचन्द के इस वक्तव्य को पढ़कर ही हम इस बात को मान लें कि उनकी कहानियाँ किसी-न-किसी मनोवैज्ञानिक सत्य पर आधारित हैं। परन्तु 'कफन', 'पंच परमेश्वर' जैसी कहानियाँ प्रेमचन्द के इस मन्तव्य को सच्चा प्रमाणित करती हैं। उपर्युक्त अज्ञेय, नगेन्द्र आदि तथाकथित कलाशास्त्री फ्रॉयड के मनोविश्लेषण शास्त्र को ही मनोविज्ञान मान कर साहित्य में सर्वत्र उसी का अंकन देखना चाहते हैं और वह उन्हें प्रेमचन्द में नहीं मिलता। इसी मतिभ्रम के कारण प्रेमचन्द का मनोविज्ञान उनकी समझ में नहीं आता क्योंकि प्रेमचन्द ने फ्रॉयड को कहीं भी अपने पास तक नहीं फटकने दिया है।

इस नवीन फ्रॉयडवादी मनोविज्ञान वाले आक्षेप से असन्तुष्ट होकर पं० विश्व नाथ प्रसाद मिश्र ने लिखा है कि—"भारतीय जीवन में अर्थ वैषम्य के कारण होने वाली भीषणता की ओर उन्होंने (प्रेमचन्द ने) संकेत किया। उन्होंने मार्क्स का परिष्कार किया, पर फ्रॉयड से बात भी नहीं की। उनकी बहुत सी कहानियों में मनोवैज्ञानिक अनुशीलन की प्रभूत सामग्री मिलेगी, पर वे नूतन मनोविज्ञान से अभिभूत नहीं हुए। उनके समय में नूतन मनोविज्ञान

आ तो चुका था, पर लेखकों को उसके दौरे नहीं आते थे। उसका दौरदौरा नहीं हुआ था।"

वस्तुस्थिति यह है कि प्रेमचन्द ने अपनी अनेक कहानियों में मानसिक स्थितियों और अवस्थाओं का अत्यन्त स्वाभाविक और प्रभावशाली वर्णन किया है। हृदय में क्रमशः उठने वाले भावों का वे बड़ा सुन्दर चित्रण करते हैं जो प्रायः किसी पात्र के हृदय परिवर्तन का सूचक होता है। उनके पात्रों का हृदय परिवर्तन या तो ऐसी मानसिक द्वन्द्वतापूर्ण पीठिका पर होता है या फिर वे उसके आसपास ऐसा वातावरण उपस्थित कर देते हैं। इसीलिए ऐसी कहानियाँ प्रायः वातावरण प्रधान हैं। 'बूढ़ी काकी', 'भाई साहब' आदि उनकी ऐसी ही कहानियाँ हैं। इन कहानियों में आधुनिक मनोवैज्ञानिक लेखकों के समान प्रेमचन्द ने अन्तर्द्वन्द्व या मानसिक ऊहापोह के विस्तृत वर्णन न कर केवल संकेतों से काम लिया है।

प्रेमचन्द की कुछ कहानियां ऐसी हैं जो मनोवैज्ञानिक आधार पर न होकर भारतीयता पर आधारित हैं। ये तत्कालीन मध्यवर्गीय समाज की एक भावुकतामयी आदर्शवादी प्रकृति को सन्तुष्ट करने के लिए लिखी गई हैं। 'दुर्गा का मन्दिर', 'शान्ति', 'बड़े घर की बेटी' आदि इसी प्रकार की कहानियां हैं। परन्तु उनकी वे कहानियाँ जिनके मर्मस्पर्शी, प्रभावशाली अन्त ने उन्हें विश्व की सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ बना दिया है 'कफन' और 'पूस की रात' जैसी कहानियाँ ही हैं। 'कफन' में लेखक प्रारम्भ से अन्त तक एक निर्मम तटस्थता और निष्पक्ष अनासक्ति के साथ दो बेकार बाप-बेटों का वर्णन करता है जो एक विशिष्ट वर्ग के प्रतीक हैं। लेखक जहाँ इस प्रकार अपने को निर्लिप्त रख पाता है वही कहानियाँ सभी दृष्टि से उच्च कोटि की बन जाती हैं।

पं० नन्द दुलारे वाजपेयी ने प्रेमचन्द की सम्पूर्ण कहानियों को निम्नलिखित चार वर्गों में बाँटा है—

(१) **नारी-सम्बन्धी**—आहुति, शान्ति, कायर, बड़े घर की बेटी, निष्कासन आदि।

(२) **ग्राम-सम्बन्धी**—अलगोझा, पूस की रात, मुक्ति मार्ग, बलिदान, शंखनाद आदि।

(३) **मनोविज्ञान-सम्बन्धी**—माता का हृदय, नशा, बड़े भाई साहब, पंच-परमेश्वर, कफन आदि।

(४) **राजनीति और समाज सम्बन्धी**—शान्ति, एक्ट्रेस, अग्नि समाधि, मैकू, समर यात्रा आदि।

उपर्युक्त सभी वर्गों की कहानियों में प्रेमचन्द की मुख्य प्रेरणा प्रारम्भ से अन्त तक बराबर प्रगतिशील रही है। वे समाज-हित की भावना को ही सर्वोपरि मान कर चले थे। इसी कारण उनके सम्पूर्ण कथा-साहित्य में एक—"विलक्षण आशावाद, मानव-महत्व के प्रति अमिट विश्वास और समाज की अनिष्टकारी शक्तियों के विरुद्ध एक कठोर व्यंग्य का भाव भरा हुआ है।" इसी विश्वास की परिपक्वता के साथ-साथ उनकी कहानी-कला भी परिष्कृत और प्रौढ़ होती चली गई है। उनकी प्रारम्भिक कहानियाँ प्रायः अधिक लम्बी और शिथिल सी हैं परन्तु उनमें उत्तरोत्तर संयम आता चला गया है। इसी कारण उनकी परवर्ती कहानियाँ अधिक गठी हुई, संक्षिप्त तथा नाटकीय प्रभाव से सम्पन्न हैं।

प्रेमचन्द की कहानियों में उनके युग के बीस-पच्चीस वर्षों का एक क्रमिक इतिहास बिखरा मिलता है। इसी बात को लक्ष्य कर कुछ आलोचकों ने प्रेमचन्द पर यह आक्षेप किया था कि उनका परिधि क्षेत्र बहुत सीमित है। वे 'रानी सारन्धा' तथा 'शतरंज के खिलाड़ी' जैसी अपनी कुछ ऐतिहासिक कहानियों को छोड़ कर सर्वत्र सामयिक राजनीति तथा समाज तक ही सीमित रहे हैं। अतः इसी कारण उनकी रचनाओं को सीमित, संकीर्ण एवं सामयिक साहित्य के रूप में ही स्वीकार किया जा सकता है न कि 'शाश्वत साहित्य' के रूप में। इन लोगों का तर्क है कि जब हमारी ये समस्यायें ही नहीं रहेंगी तो इस साहित्य की फिर क्या उपयोगिता रह जायेगी। पं० नन्ददुलारे वाजपेयी ने इस सीमित, संकीर्ण और शुद्ध रूप से कलावादी (शाश्वत साहित्य का नारा कलावादी ही उठाया करते हैं।) दृष्टिकोण का निराकरण करते हुए लिखा है कि—

"सामग्री चाहे जिस क्षेत्र से ली जाय, उसके निरूपण और निर्देश में ही लेखक की सारी प्रतिभा लक्षित होती है। सारा प्रश्न लेखक के मानव-स्वभाव

की मौलिक विशेषताओं तक पहुँचने और उन्हें चित्रित करने का रहा करता है। किसी कृति की सार्वजनिकता इसी भूमिका पर देखी जाती है। प्रश्न उपादानों का नहीं है, वे तो चाहे जहाँ से लिए जा सकते हैं, प्रश्न उन उपादानों में निहित जीवन-स्वरूप और जीवन-प्रक्रिया का है। यदि किसी कलाकार ने छोटे दायरे में काम करते हुए भी मानव-जीवन के स्थायी तारों को स्पर्श किया और उन्हें झनझनाया है तो उसकी कृति सामयिकता की सीमा से घिरी न रहेगी। उसका प्रसार समय की परिधि से बाहर भी हो सकेगा।"

प्रेमचन्द-साहित्य में उपर्युक्त सभी गुण विद्यमान हैं इसलिए उसका सम्मान अनन्त काल तक ऐसा ही बना रहेगा बल्कि समय के साथ-साथ बढ़ता ही चला जायेगा। इसी तथ्य का समर्थन करते हुए प्रसिद्ध क्रान्तिकारी लेखक मन्मथनाथ गुप्त ने लिखा है कि—"हम प्रेमचन्द को मामूली उपन्यासकार नहीं समझते, हम उन्हें आगामी युग के निर्माताओं में समझते हैं।...हमें विश्वास है कि जब शोषण मूलक समाज का अन्त हो जाने के बाद बहुत सी सामयिक घटनायें तथा व्यक्तित्व इतिहास के नीचे थिरा जायेंगे, उस समय हम प्रेमचन्द ऐसे लेखक का सही मूल्य कूतने में समर्थ होंगे।" प्रसिद्ध रूसी कथाकार गोर्की आज पहले से अधिक लोकप्रिय है यद्यपि उसके द्वारा चित्रित अनेक समस्यायें हल हो चुकी हैं।

प्रेमचंद की कहानियाँ हमारी ग्रामीण जनता में अधिक लोकप्रिय हैं। इसका कारण यह है कि प्रेमचंद का कहानी कहने का ढंग ठेठ भारतीय है। कुछ आलोचक आधुनिक कहानी-कला को यूरोप की देन मानते हैं परंतु डा० रामविलास शर्मा का मत यह है कि—"भारत में 'हितोपदेश' और 'कथा सरित्सागर' के रहते हुए—'बैताल पच्चीसी' और 'सिंहासन बत्तीसी' का जिक्र न करें तो भी—ऐसा सोचना यूरोप-भक्ति का प्रमाण हो सकता है, वैज्ञानिक विवेचन का नहीं। 'जातकों' और 'पंचतन्त्र' के देश को यूरोप वाले कहानी-सिखलाने आएँ?" डा० शर्मा का मत है कि प्रेमचन्द ने कहानी कहने की कला—"हिन्दुस्तान के अक्षय कथा भण्डार से सीखी है।" इसके लिए डा० शर्मा ने प्रेमचन्द की एक कहानी 'सवा सेर गेहूँ' कैसे प्रारम्भ होती है, इसका उदाहरण दिया हैं—"किसी गाँव में शंकर नाम का एक कुरमी किसान रहता

था। सीधा-सादा गरीब आदमी था, अपने काम से काम, न किसी के लेने में न देने में।...एक दिन सन्ध्या समय एक महात्मा ने आकर उसके द्वार पर डेरा जमाया।"

कहानी कहने का उपर्युक्त ढंग ठेठ देहाती है। इसी कारण प्रेमचंद की अधिकांश कहानियों में—"ग्रामीण कथाओं का रस और उनकी शैली अपनाई गई है।" ग्रामीण जनता में प्रेमचंद की लोकप्रियता का यही रहस्य है। परन्तु ऐसी कहानियों में प्रेमचंद ने एक ऐसी मौलिक विशेषता भर दी है जो ग्राम-कथाओं में नहीं मिलती और वह है उनका चुभता हुआ तीखा व्यंग्य। उनकी अधिकतर कहानियों में एक ऐसा व्यंग्य रहता है जो पाठक को तिलमिला देता है। इसके लिए डा० रामविलास शर्मा ने 'मुक्तिमार्ग' नामक कहानी से एक उद्धरण दिया है—

"सिपाही को अपनी लाल पगड़ी पर, सुन्दरी को अपने गहनों पर और वैद्य को अपने सामने बैठे हुए रोगियों पर जो घमण्ड होता है, वही किसान को अपने खेतों को लहराते हुए देख कर होता है।" यह उद्धरण देकर डा० शर्मा ने लिखा है—"यहाँ पर एक ही वाक्य में प्रेमचंद ने न जाने कितनों को घायल कर दिया है। यह पुंजीभूत व्यंग्य—शास्त्रकार इस प्रयोग के लिए क्षमा करें—प्रेमचंद की शैली की अपनी विशेषता है।"

आधुनिक कलावादी कहानी-लेखकों की तरह प्रेमचन्द मनोविज्ञान, शाश्वत साहित्य आदि का आडम्बर खड़ा कर ऐसी कहानी नहीं लिखते थे जो पाठक को विस्मय, विरक्ति एवं असमंजस में डाल दे। उनका कहानी-साहित्य फुरसत में पढ़ने की चीज है। "वह कहानी सुनाते हैं, अक्सर लच्छेदार जवान में, वाक्यों को स्वाभाविक गति से फैलने की आजादी देकर... जिन्दगी के अनुभवों पर टीका-टिप्पणी भी साथ में चला करती है, व्यंग्य, अनूठी उपमायें और हास्य बीच-बीच में पाठक को गुदगुदाते रहते हैं।" और ऐसा करने में प्रेमचन्द के दो उद्देश्य सिद्ध होते हैं। वे एक तरफ पाठकों का मनोरंजन करते चलते हैं और दूसरी तरफ इसके साथ-साथ किसी एक समस्या को सामने लाकर पाठक का मन विद्रोह से भर देते हैं। उनकी प्रायः प्रत्येक कहानी में—"कोई न कोई

सुझाव, जीवन के प्रति नया दृष्टिकोण, किसी समस्या का हल जरूर मिलता है।"

प्रेमचन्द आदर्शोन्मुख यथार्थवादी के नाम से प्रसिद्ध हैं। उनकी कुछ कहानियों में आदर्श के प्रति उनका प्रबल मोह देखा जा सकता है। इस मोह में पड़ कर, गाँधीवाद से प्रभावित होकर जहाँ वे अपने किसी पात्र का हृदय परिवर्तन होता हुआ दिखाते हैं वहाँ उनका स्वाभाविक तीखा यथार्थ अपनी शक्ति खो बैठता है। ऐसे निष्कर्ष सजग बुद्धि पाठक को, जो प्रेमचन्द के व्यंग्यों का अभ्यस्त और प्रशंसक होता है, प्रभावित नहीं कर पाते। 'डामुल का कैदी' ऐसी ही कहानी है। उनका तीखा व्यंग्य 'शतरंज के खिलाड़ी' जैसी कहानियों में अत्यन्त स्वाभाविक रूप से उभर कर आया है। इस कहानी में 'कला कला के लिए' सिद्धान्त पर कस कर व्यंग्य किया गया है। शतरंज के दोनों खिलाड़ी मिर्जा और मीर—केवल अपने मनोरंजन में मस्त हैं, देश की उन्हें कोई चिन्ता नहीं। वे शतरंज के बादशाह की रक्षा के लिए तो आपस में कट मरते हैं मगर अपने असली बादशाह की रक्षा के प्रश्न पर पूर्ण रूपेण निर्लिप्त रहते हैं। ऐसे तीखे व्यंग्य ही प्रेमचन्द की कहानी कला के प्राण और प्रमुख आकर्षण हैं।

प्रेमचन्द ने सदैव निर्बलों, शोषितों और दलितों का पक्ष लिया था और शोषकों, अत्याचारियों का विरोध किया था। "समाज की पीड़ित विधवाएँ, सौतेली माताओं से परेशान बालक, महन्तों और पुरोहितों से ठगे जाने वाले किसान, दूसरों की गुलामी करके भी पेट न भर पाने वाले अछूत, महाजन का सूद भरते-भरते जिन्दगी गारत कर देने वाले किसान—ये और इस तरह के सभी लोग कहानीकार प्रेमचन्द में एक अच्छा दोस्त और सलाहकार पाते हैं। समाज के अन्यायी और अत्याचारी, निठल्ले और मुफ्तखोर, अंग्रेजी राज के वफादार मददगार प्रेमचन्द में अपनी वह असली सूरत देख सकते हैं जैसी कि वह जनता का पक्ष लेने वाले एक सजग साहित्यकार को दिखाई देती थी।"

(डा० रामविलास शर्मा)

प्रेमचन्द की कहानी कहने की शैली में सरलता, ओज, सजीवता, चित्रमयता, भाषा पर असाधारण अधिकार, व्यंग्य, हास्य, उत्कृष्ट चरित्र-चित्रण आदि कहानी-कला के सभी गुण प्रचुरता और अपने पूर्ण निखार के साथ

मिलते हैं। ऐसे गुणों का एक ही स्थान पर एकत्रीकरण हिन्दी के अन्य कहानीकारों में दुर्लभ है। डा० शर्मा ने प्रेमचन्द के इन्हीं गुणों से प्रभावित होकर लिखा है—"उनका कहानी-साहित्य हमारे जातीय जीवन का दर्पण है। हिन्दी-भाषी जनता के उत्कृष्ट गुण इनके पात्रों में झलकते हैं। उनके अधिकाँश पात्र हास्य-प्रेमी, जिन्दादिल, कठिन परिस्थितियों का धीरज से मुकावला करने वाले, अन्याय के सामने सिर न झुकाने वाले होते हैं। प्रेमचन्द ने ये सब बातें जनता में देखीं थीं, इसलिए कहानियों में उन्हें चित्रित कर सके थे।"

प्रेमचन्द की कहानी-कला हिन्दी-कहानी-साहित्य में एक नया क्रान्तिकारी मोड़ और अपने समकालीन और परवर्त्ती कहानीकारों के लिए प्रेरणा का प्रधान स्रोत थी। प्रेमचन्द साहित्य को जीवन की आलोचना मानते थे। उनका प्रधान उद्देश्य यह था कि वे अपने साहित्य द्वारा जीवन का सच्चा एवं यथार्थ चित्रण कर जनता में जागरण का सन्देश फूक सकें। इसलिए उनके सामने शिल्प-विधान गौण तथा सन्देश प्रधान था। परन्तु अपने शिल्प-विधान का निर्माण करने में वे इस बात के प्रति सजग थे कि वे जो बात कहें वह इतने प्रभावशाली एवं आकर्षक ढङ्ग से कही जाय कि साधारण पाठक भी उसे समझ कर उससे प्रभावित हो उठे। इसके लिए उन्होंने दो बातों पर विशेष बल दिया था—मनोवैज्ञानिक चित्रण तथा जन-साधारण की भाषा। इससे स्पष्ट हो जाता है कि प्रेमचन्द चमत्कार को साहित्य का प्रधान गुण नहीं मानते थे। अर्थात् प्रेमचन्द कलावादी न होकर कला को जीवन की कसौटी पर कसते थे। कला उनके लिए साध्य न होकर साधन मात्र थी।

प्रेमचन्द ने अपनी कला का उचित रूप खोजने के लिए विभिन्न प्रयोग किए थे, इस कारण उनकी कला अर्थात् निर्माण-कौशल का क्रमिक विकास हुआ था। प्रेमचन्द की प्रारम्भिक कहानियाँ प्रायः अधिक लम्बी हैं। कथा-संगठन में शैथिल्य है। इसलिए उनमें गति की वह तीव्रता, लक्ष्य के प्रति तीर की तरह आगे बढ़ने की त्वरित गति के दर्शन नहीं होते। अनावश्यक वर्णन उसकी गति को शिथिल बना देते हैं। वर्णन की यह प्रधानता उनकी मध्यकाल तक की कहानियों में कमोवेश रूप में चली आती है। परन्तु जैसे-जैसे वह आगे बढ़ते गए हैं वैसे-वैसे उनकी कहानियाँ छोटी और वर्णनों में कमी आती चली

गई है । प्रेमचन्द स्वयं इस बात को स्वीकार करते थे कि---"कहानी इस क्रम से आगे चले कि क्लाइमैक्स निकटतर आता जाये ।" पं० नन्ददुलारे वाजपेयी के शब्दों में—"मुख्यत: एक ही प्रकरण लेकर उसे आदि से अन्त तक हीरे की कण की भाँति खूब तराश कर चमका देना कहानी के श्रेष्ठ कलाकार का कार्य होता है । प्रेमचन्द जी केवल दस प्रतिशत कहानियों में इस विकसित पद्धति का प्रयोग कर सके ।"

परन्तु शिल्प-विधान की यह निर्बलता प्रेमचन्द की उद्बुद्ध कल्पना-शक्ति, स्वस्थ जीवन-दृष्टि एवं उनके उन्नायक प्रभाव के कारण दूर हो जाती है क्योंकि ये उपकरण कहानी-कला की अन्य त्रुटियों को दूर कर उसे प्रभावशाली बना देते हैं । इसके अतिरिक्त वाजपेयी जी प्रेमचन्द की कहानीकला की सबसे बड़ी विशेषता उसमें निहित भावात्मक तत्व को मानते हैं । उनके शब्दों में—"सच्चे अर्थों में प्रभावशाली भाव सृष्टि जीवन की वास्तविक गतिविधि के निरीक्षण और चित्रण से आती है । वस्तून्मुखी परिस्थितियाँ और उन पर काम करने वाली मानव-चेतना जब लेखक की तूलिका में सजीव होकर एकाकार हो जाती हैं तभी सच्चा भावात्मक चित्र बन पाता है ।··· अतएव जिस लेखक में तटस्थ अनुशीलन के साथ सच्ची भाव-प्रवणता होगी, वही श्रेष्ठ कहानीकार बन सकेगा ।" प्रेमचन्द में यह गुण पर्याप्त मात्रा में मौजूद है ।

प्रेमचन्द की प्रारम्भिक कहानियों में भाव तत्व विशेष रूप से उभर कर आया है । उनमें बौद्धिक तत्व की कमी है । मगर जैसे-जैसे उनका जीवन अनुभव विस्तृत और गहरा होता गया है वैसे-वैसे उनकी कहानियों में विचार-तत्व का अधिकाधिक समावेश होता चला गया है । उनकी प्रौढ़ काल की कहानियाँ पाठक के लिए चिन्तन का बहुत बड़ा मसाला छोड़ जाती हैं । उनकी बौद्धिकता पाठक की विवेक बुद्धि को कुरेदती रहती है । 'शतरंज के खिलाड़ी', 'कफन' आदि कहानियाँ पाठक को झकझोर देती हैं । प्रेमचन्द जहाँ समाज की समस्याओं एवं विषमताओं पर चोट करते हैं वहाँ उनकी लेखनी तीव्र हो उठती है । ऐसी कहानियों में उनके भाव एवं विचार लक्ष्य के प्रति इतनी तेजी से बढ़ते हैं कि पाठक अभिभूत हो उठता है । उनकी ऐसी कहानियाँ कला एवं

प्रभाव की दृष्टि से विश्व साहित्य की अमूल्य निधि मानी जा सकती हैं । ऐसी कहानियों का अन्त अधिक व्यंजनात्मक और प्रभावशाली हुआ है ।

हिन्दी-कहानी-साहित्य में चरित्र-प्रधान कहानियों की सर्व प्रथम रचना करने का श्रेय प्रेमचन्द को ही है । उनकी अधिकाँश कहानियाँ चरित्र-प्रधान हैं। प्रारम्भिक कहानियों में चरित्र-चित्रण कम और आचरण प्रधान है । इसलिए पात्रों का व्यक्तित्व उभर कर नहीं आ पाता । परन्तु आगे चलकर कार्य और आचरण गौण बनते चले गए हैं और चरित्र-चित्रण का आधार मनोवृत्ति और मनोविश्लेषण बनता गया है । पात्रों की मनोवैज्ञानिक अनुभूतियों का चित्रण कर प्रेमचन्द ने अपने पात्रों में व्यक्तित्व-प्रतिष्ठा की । उनका यह विकास क्रमशः स्थूलता से मनोभावों की सूक्ष्मता की ओर होता गया । इससे उनके पात्रों का व्यक्तित्व अधिकाधिक उभरा और वे अधिक सजीव और स्वाभाविक बन गए । प्रेमचन्द के प्रायः सभी पात्र किसी वर्ग-विशेष के प्रतिनिधि (टाइप) हैं। यद्यपि उनमें अपनी वर्गगत विशिष्टताओं के साथ-साथ व्यक्तिगत विशिष्टताओं के भी दर्शन होते हैं । उनका साधारण से साधारण वर्ग का पात्र भी अपने चरित्र की विशिष्टता एवं पूर्णता के कारण पाठकों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लेता है । उसके चरित्र के सम्पूर्ण शुभ-अशुभ पक्ष स्पष्ट हो जाते हैं ।

कथोपकथन की दृष्टि से उनकी प्रारम्भिक कहानियाँ शिथिल हैं । उनमें वर्णनों की प्रधानता रहने के कारण संवाद अधिक नहीं निखर पाए हैं और अक्सर नीरस, असम्बद्ध और लम्बे हो गए हैं । परन्तु आगे चलकर जैसे-जैसे चरित्रे-विश्लेषण की प्रधानता होती गई है वैसे-वैसे संवादों में सजीवता, स्वाभाविकता, अनुकूलता, व्यंग्य और हास्य का अधिकाधिक समावेश होता गया है । उनके पात्र वाक्पटु बनते चले गए हैं । ये संवाद वातावरण का निर्माण करने में पूरी सहायता करते हैं । वातावरण का चित्रण करने में भी प्रेमचन्द पूर्ण कुशल हैं । वे स्थानीय विशिष्टताओं का समावेश कर वातावरण में स्थानीय चित्रण की विशेषता एवं आकर्षण उत्पन्न कर देते हैं ।

और इन सम्पूर्ण तत्वों की सफलता का श्रेय प्रेमचन्द की भाषा को दिया जा सकता है । भाषा और शैली के विषय में प्रेमचन्द सादगी और स्पष्टता के कायल थे । क्योंकि वे जनता के लेखक थे और जनता सरल और सीधी भाषा

में कही गई बात को आसानी से समझ लेती है । इसी कारण प्रेमचन्द ने अपनी भाषा का रूप ठेठ हिन्दुस्तानी का रखा है जो मँजी हुई, प्रौढ़-परिष्कृत, संस्कृत पदावली से शुभ्र और उर्दू की चंचलता लिए हुए है । वे भाषा की तथा-कथित शुद्धता के कायल नहीं थे । उन्होंने प्रसंगानुकूल संस्कृत, अंग्रेजी, अरबी, फारसी आदि भाषाओं के सर्व-प्रचलित शब्दों का खूब प्रयोग किया है । मुहावरे और कहावतें उनकी भाषा में एक अनोखी शक्ति और आकर्षण उत्पन्न कर देती हैं । प्रेमचन्द की हिन्दी को ही महात्मा गाँधी ने 'हिन्दुस्तानी भाषा' का नाम दिया था और वे इसे ही राष्ट्रभाषा बनाने के समर्थक थे । यही प्रेमचन्दी हिन्दी आज हमारे लोकप्रिय साहित्य की भाषा है ।

प्रेमचन्द ने कहानी-कला के उपर्युक्त सम्पूर्ण उपकरणों में एक अद्भुत सामंजस्य और सन्तुलन रखकर अपनी कहानी-कला का निर्माण किया था । और उनकी लोकप्रियता एवं सफलता का बहुत कुछ श्रेय उनकी इस कला को दिया जा सकता है । फिर भी प्रेमचन्द का प्रधान उद्देश्य जीवन का चित्रण करना था न कि कहानी-कला के नियमों को सामने रखकर उनका अनुगमन करना । उनकी कहानियाँ जीवन का एक यथार्थ, सामूहिक चित्र प्रस्तुत कर गहरा प्रभाव डालती हैं । कला के अन्य उपकरण उनकी उर्वर कल्पना तथा उनके अन्तस्तल में छिपा हुआ कलाकार स्वतः ही सजाता चला जाता है । वे इसके लिए प्रयत्न नहीं करते । यही स्वाभाविकता उनकी कला का प्राण है । परन्तु हमारे कलावादी आलोचक प्रेमचन्द में केवल कला को ढूँढ़ते फिरते हैं, कृत्रिम भाषा का पता लगाते हैं, और प्रेमचन्द को गालियाँ देते हैं । परन्तु हम प्रेमचन्द में कला और जीवन को एकरस पाते हैं । ये कलावादी भी यदि इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लें तो उनके सारे भ्रम और कुंठाएँ दूर हो सकती हैं ।

जयशंकर प्रसाद

काशी के प्रसिद्ध 'सुंघनी साहु' घराने में, जो अपने वैभव, सम्पन्नता और दानशीलता के लिए प्रसिद्ध था, जन्म लेकर भी प्रसाद को अपने जीवन में अनेक संकटों का सामना करना पड़ा था। बारह वर्ष की अवस्था में जब प्रसाद आठवीं कक्षा में पढ़ते थे तभी पिता का स्वर्गवास हो गया और उन्हें स्कूल छोड़ देना पड़ा। परन्तु उनके बड़े भाई ने घर पर ही उनकी पढ़ाई की समुचित व्यवस्था कर दी। दीनबन्धु ब्रह्मचारी उनके शिक्षक नियुक्त हुए जिन्होंने प्रसाद को संस्कृत भाषा और साहित्य का अध्ययन कराया। संस्कृत भाषा एवं साहित्य के गम्भीर अध्ययन और मनन के साथ-साथ प्रसाद ने अंग्रेजी, फारसी, हिन्दी, उर्दू, बंगला आदि का भी ज्ञान अर्जित किया। इनका झुकाव विशेष रूप से भारतीय प्राचीन संस्कृति, दर्शन, इतिहास और पुरातत्व की ओर अधिक रहा था जिसका गहरा प्रभाव उनकी समस्त साहित्य-साधना पर लक्षित होता है।

सत्रह वर्ष की अवस्था में बड़े भाई की मृत्यु हो जाने से परिवार एवं व्यवसाय के प्रबन्ध का समस्त भार इस किशोर के अनुभवहीन, निर्बल कन्धों पर आ पड़ा। दान देने में इनके घर वाले सदैव उदार रहे थे इसलिए कर्ज भी काफी था। परन्तु किशोर प्रसाद ने साहस से काम लिया और कालान्तर में घर का सारा ऋण भी चुका दिया, व्यवसाय को भी सम्हाला और साथ-साथ हिन्दी-साहित्य के भंडार को ऐसे अमूल्य रत्नों से पूरित किया जिनकी दीप्ति और यश अक्षय बना रहेगा। प्रसाद का सम्पूर्ण साहित्य उनके गम्भीर अध्ययन, चिन्तन, बाह्य और अन्तर्द्वन्द्वों का ही प्रतिफलन था। जिस प्रकार

उन्होंने अपने व्यापारिक और साहित्यिक—दो नितान्त विरोधी व्यक्तित्वों—में समझौता और सामंजस्य स्थापित कर लिया था उसी प्रकार उन्होंने अपने साहित्य में भी उन्नीसवीं शताब्दी तथा बीसवीं शताब्दी की साहित्यिक मान्यताओं एवं विचारधाराओं का अद्भुद, कलापूर्ण तथा प्रभावशाली सामंजस्य स्थापित किया था। सामंजस्य स्थापित करना उनके अद्भुत व्यक्तित्व का एक विशिष्ट गुण था। उनके व्यक्तित्व का निर्माण अनेक उपकरणों द्वारा हुआ था जिसमें वैदिक साहित्य का ओज और तेज था तो साथ ही बौद्ध-दर्शन की करुणा का गाम्भीर्य भी था। उनके इसी अद्भुत व्यक्तित्व का परिचय देते हुए रामनाथ 'सुमन' ने लिखा है—

"व्यक्ति की दृष्टि से 'प्रसाद' एक उच्च कोटि के पुरुष थे। वह कवि होने के कारण उदार, व्यापारी होने के कारण व्यवहारशील, पुराण-शास्त्र से लेकर संस्कृत काव्य आदि के विशेष अध्ययन के कारण प्राचीनता की ओर झुके हुए, भारतीय आचारों एवं भारतीय सभ्यता के प्रति ममता रखने वाले तथा एक सीमा तक पाश्चात्य सभ्यता के गुणों के प्रशंसक थे। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थान्श में जन्म लेने और बीसवीं शताब्दी में विकसित होने के कारण उनके जीवन में उन्नीसवीं और बीसवीं दोनों शताद्वियों के उपकरण दिखाई देते हैं। वह उनके बीच की चीज हैं। उन्नीसवीं शताब्दी ने उन्हें रोमान्स के प्रति झुकाव, मस्ती, विलासितापूर्ण सरसता और झंझटों से यथा सम्भव अलग रह कर सामान्य सुख के साथ जीवन बिताने के भाव प्रदान किए और बीसवीं शताब्दी ने यौवन का प्रवाह, परिवर्त्तनोन्मुखी प्रवृति, भारतीयता की ओर झुकाव, विदग्धता तथा अस्थिर वेदना का दान दिया। वे दो युगों के संयुक्त उपकरणों की उपज हैं।"[१]

स्वभाव से प्रसाद एकान्त-प्रिय अतः एकान्त साधक थे। वे भीड़भाड़ से दूर रह कर एकान्त साहित्य-साधना करने के विश्वासी थे। सभा-समाजों आदि से वे सदैव घबड़ाते थे इसलिए कवि-सम्मेलनों में भी कभी नहीं जाते थे। स्वभाव की यह आन्तरिकता उनके साहित्य को भी प्रभावित करती रहती

१—**कवि प्रसाद की काव्य-साधना—पं० रामनाथ 'सुमन'।**

थी। वे भावुक और कल्पनाशील थे। इसी कारण यथार्थ की विभीषिका उन्हें मोह नहीं पाती थी। वर्तमान की समस्याओं का समाधान भी वे ऐतिहासिक परिवेश में ही ढूँढ़ा करते थे। परन्तु साथ ही वे भविष्य-द्रष्टा भी थे। उन्हें अपने देश, अपनी जाति, अपनी विचारधारा आदि से अमित अनुराग था। वे वर्तमान को ही सब कुछ न मानकर दूरागत उज्ज्वल भविष्य की कल्पना किया करते थे। इसी कारण कुछ लोगों ने कहा था कि प्रसाद के नाटक 'आज के नहीं, कल के हैं।' वे अपने समय से बहुत आगे थे। इसी कारण कुछ लोगों ने उनके साहित्य को उस दूरागत भविष्य का प्रतीक न मान कर परम्परावादी, पलायनवादी और प्रतिक्रियावादी तक घोषित कर दिया था।

प्रसाद हिन्दी के एक ऐसे बहुमुखी प्रतिभाशाली साहित्यकार थे जिन्होंने साहित्य की जिस विधा पर अपनी लेखनी उठाई उसे उन्नति एवं उत्कर्ष के एक अत्युच्च शिखर पर ला बैठाया। वे मूलतः कवि थे। कवि के साथ-साथ नाटककार, उपन्यासकार, कहानीकार और निबन्धकार भी थे। वे इस युग के सर्वश्रेष्ठ कवि तो थे ही, साथ ही नाटक-सम्राट भी माने जाते थे। कहानीकार के रूप में ऐतिहासिक तथा कलात्मक दृष्टि से उनका प्रथम स्थान माना जाता है। निबन्ध उन्होंने यद्यपि थोड़े से ही लिखे थे परन्तु आज भी उनके वे निबन्ध अक्षय कीर्त्ति के अधिकारी बने हुए हैं। उपन्यासकार के रूप में उन्होंने केवल दो पूर्ण ('कंकाल' और 'तितली') तथा एक अपूर्ण ('इरावती') कुल तीन उपन्यास लिखे थे परन्तु इन उपन्यासों की उपेक्षा कर हिन्दी-उपन्यासों का इतिहास लिखना असम्भव है। 'कंकाल' घोर यथार्थवादी पद्धति का हिन्दी का प्रथम उपन्यास माना जाता है। परन्तु हमारा विवेच्य-विषय 'कहानीकार प्रसाद' है अतः हम यहाँ उनके सम्पूर्ण साहित्यिक कृतित्व का विवेचन न कर केवल कहानीकारी प्रसाद तक ही अपने को सीमित रखने का प्रयत्न करेंगे।

प्रसाद की पहली कहानी 'ग्राम' हिन्दी की प्रथम मौलिक कहानियों में मानी जाती है। इसका अभिप्राय यह निकला कि प्रसाद ने हिन्दी-कहानी के आविर्भाव युग में कहानियाँ लिखना प्रारम्भ किया था अतः उन्हें हिन्दी-कहानी के आदि-प्रवर्तकों और कर्णधारों में से माना जाता है।

वैसे तो गुलेरी की गणना भी इसी श्रेणी में होती है परन्तु गुलेरी एकाकी रहे थे। वे अपने समकालीन या परवर्ती कहानीकारों को प्रभावित नहीं कर सके थे। उस युग में कहानी-क्षेत्र में दो व्यक्तित्व ही ऐसे उत्पन्न हुए थे जिन्होंने हिन्दी-कहानी के दो प्रसिद्ध संस्थानों की स्थापना की थी। वे थे प्रसाद और प्रेमचन्द। प्रसाद ने भावात्मक आदर्शवादी कहानी-साहित्य की नींव डाली और प्रेमचन्द ने व्यावहारिक आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की। उनके समकालीन और परवर्ती अनेक कहानीकारों ने इन दोनों का अनुकरण कर अथवा इनसे प्रेरणा प्राप्त कर हिन्दी को अनेकानेक उच्च कोटि की कहानियाँ प्रदान की थीं।

प्रसाद काव्य को आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति मानते थे। और इसलिए साहित्य का आरम्भ काव्यमय। वे काव्य का दृष्टा 'कवि का सुन्दर दर्शन' स्वीकार करते थे। प्रसाद की कहानियों का उद्गम उनके काव्य-सम्बन्धी इसी दृष्टिकोण के आधार पर हुआ था। डा० लक्ष्मीनारायण लाल ने इस तथ्य को स्वीकार करते हुए लिखा है—

"काव्य की इन्हीं परिष्कृत भावनाओं में प्रसाद की कहानियों का उद्गम होता है। अतएव इनकी कहानियाँ आज की कहानी कला या उनकी शिल्प-विधि पर सफलता से नहीं कसी जा सकती, क्योंकि इनका संस्कार बिलकुल स्वतंत्र और अपना है। इनका समूचा भाव-पक्ष काव्यात्मक है। इन कहानियों के पीछे जो प्रेरणा और भाव विन्दु है, वह एक ओर गीत-काव्य के समीप है, और दूसरी ओर नाटक के समीप; जो कहानियाँ छोटी हैं, उन सबके पीछे प्रसाद के गीत-तत्व की प्रेरणा कार्य कर रही है। ऐसी छोटी कहानियाँ प्रायः कहानियाँ न होकर शिल्पविधि की दृष्टि से गद्यगीत हो गई हैं, जैसे प्रतिध्वनि, प्रलय, कला और प्रतिमा आदि। विशुद्ध भावपक्ष की दृष्टि से ये कहानियाँ रहस्यवादी और रूपात्मक भी हुई हैं।"

यह तो हुई प्रसाद की छोटी कहानियों की प्रेरणा। उनकी बड़ी कहानियाँ, जैसे, 'इन्द्रजाल', 'स्वर्ग के खंडहर में' आदि भाव-विन्दु से प्रेरित न होकर किसी विचार या कार्य से अंकुरित हुई हैं। इनके इतिवृत्त में खंडकाव्य

और महाकाव्य की सी प्रेरणा मिलती है। उनकी ऐतिहासिक कहानियाँ जैसे 'आकाश दीप', 'पुरस्कार', 'आँधी', 'सालवती', 'देवरथ' आदि की प्रेरणा नाटकीय प्रतीत होती है। इनकी सारी संवेदनायें, सारी परिस्थितियाँ नाटकीय हैं। उनका प्रभाव भी नाटक जैसा ही पड़ता है। डा० लक्ष्मी नारायण लाल ने अपने इस दृष्टिकोण के समर्थन में प्रसाद की विभिन्न कहानियों की उनके महाकाव्य, नाटक, गीतकाव्य आदि की रचना-तिथियों से एकता दिखाते हुए यह सिद्ध किया है कि उनकी उपर्युक्त धारणायें असंगत न होकर संगत हैं। उनका विवेचन द्रष्टव्य है—

"प्रसाद की जीवन तिथियों को लेकर अगर हम उक्त कहानियों के स्रोत ढूँढ़े तो हमें स्पष्ट हो जायेगा कि इनका सम्बन्ध क्रमशः प्रसाद के गीत, महाकाव्य और नाटक रचना के प्रेरणा-काल से है, जैसे १९३६ ई० में 'कामायनी' महाकाव्य की सृष्टि और उसी समय 'इन्द्रजाल' कहानी की रचना; १९३१ ई० में 'चन्द्रगुप्त नाटक' और 'आँधी', 'पुरस्कार' कहानियों की सृष्टि; १९२९ ई० में 'एक घूँट' एकांकी नाटक की रचना तथा 'आकाश दीप' कहानी का निर्माण; १९१३ ई० में 'कानन कुसुम' कथा 'प्रेम पथिक' गीत-काव्यों की रचना तथा उसी समय 'प्रतिध्वनि', 'ममता' 'प्रलय', 'प्रसाद' कहानियों की सृष्टि।"

इस उदाहरण से सिद्ध हो जाता है कि प्रसाद की कहानियों के प्रेरणा विन्दु सर्वत्र उनके काव्य और नाटक ही रहे हैं। यही कारण है कि प्रसाद की कहानियों का शिल्प-विधान समीक्षा के लिए एक नवीन दृष्टिकोण की अपेक्षा करता है। अस्तु,

प्रसाद की सम्पूर्ण कहानियाँ पाँच संग्रहों में संग्रहीत हैं—१—छाया, २—प्रतिध्वनि, ३—आकाशदीप, ४—आँधी, और ५—इन्द्रजाल। 'छाया' इनका प्रथम कहानी-संग्रह था जो हिन्दी का प्रथम मौलिक कहानी-संग्रह माना जाता है। इसमें ग्यारह कहानियों का संग्रह किया गया था। इसी में प्रसाद की सर्वप्रथम मौलिक कहानी 'ग्राम' भी संग्रहीत है। जब प्रसाद ने कहानियाँ लिखना प्रारम्भ किया था उस समय हिन्दी पर बंगला-साहित्य का गहरा प्रभाव था। अतः प्रसाद की प्रारम्भिक कहानियाँ भी इस प्रभाव से आक्रान्त रहीं। 'छाया'

के सम्बन्ध में राय कृष्णदास ने लिखा था—"छाया की कहानियाँ यद्यपि भाव और कथानक में सर्वथा मौलिक हैं, किन्तु उनकी बोझिल भाषा और वस्तु-विन्यास बंगला प्रभाव से लतपत है, तो भी बीच-बीच में प्रसाद के निजस्व का अरुणोदय दीख पड़ता रहा है।" प्रसाद ने अपनी प्रारम्भिक कहानियों में बंगला के इस प्रभाव को अपनी मौलिकता के साथ स्वीकार किया था परन्तु शीघ्र ही उन्होंने इस प्रभाव से मुक्ति पाकर उस समय ऐसे उच्चकोटि के साहित्य का निर्माण किया जो विचार तथा भावुकता की दृष्टि से बंगला से किसी भी प्रकार निम्न नहीं था और जो साथ ही मौलिक भी था। इस प्रकार प्रसाद के प्रारम्भिक कहानी साहित्य ने हिन्दी पर छाए बंगला-प्रभाव को दूर करने में ऐतिहासिक योग दिया था।

प्रसाद की कहानियों का क्रमानुसार विश्लेषण करने से पूर्व हमें उनकी मूल प्रेरणाओं के उद्गम-स्थल को जान लेना चाहिए। हम यह पहले कह आए हैं कि प्रसाद की समस्त कहानियों ने सर्वत्र उनके काव्य और नाटकों के अनुरूप ही स्वरूप धारण किया है। उनके समस्त साहित्य की मूल-प्रेरणा काव्यात्मक रही है। काव्य में कल्पना का स्थान सर्वोपरि रहता है। अतः प्रसाद की समस्त कहानियों का जन्म भी कल्पना द्वारा ही हुआ है। कल्पना का आधिक्य रहने से साहित्य भावात्मक बन जाता है। अतः प्रसाद की समस्त कहानियाँ भी भावात्मक ही हैं। परन्तु साहित्य-मनीषियों का कहना है कि कथा-साहित्य कल्पना पर आधारित न होकर यथार्थ पर खड़ा रहता है। उसमें यथार्थ भौतिक जगत एवं जीवन के चित्रण का ही प्राधान्य रहता है। शुद्ध कल्पना द्वारा निर्मित कथा-साहित्य भावात्मक होने के कारण कथा-साहित्य की सर्वमान्य शिल्पविधि की उपेक्षा कर काव्य की शिल्प-विधि का अनुगमन ही अधिक करता है। इसलिए उसका शिल्प अपेक्षाकृत अधिक अमूर्त्त और संवेद्य हो उठता है। भावात्मक कहानियाँ इसीलिए किसी समस्या को मूलाधार बना कर नहीं लिखी जा सकतीं। उनकी रचना किसी विशेष वृत्ति या चित्तवृत्ति में ही होती है। उनकी समस्त अन्तर्चेतना काव्योद्गार और सौन्दर्यानुभूति की प्रेरणा पर आधारित रहती है। भावुक उत्तेजना और सौन्दर्यानुभूति की प्रेरणा भावात्मक कथाकार को उत्तेजित करती है और वह इन्हीं से प्रेरित होकर अपनी

कहानी का प्रारम्भ करता है । प्रसाद की समस्त कहानियों में उनकी यही पद्धति दिखाई देती है । कभी वे सौन्दर्यानुभूति में डूब कर प्रकृति-चित्रण द्वारा अपनी कहानी का प्रारम्भ करते हैं और कहीं दो पात्रों के कवित्वपूर्ण कथोपकथन के साथ । उनकी इस कला में उत्तरोत्तर विकास होता चला गया है ।

आलोचकों ने प्रसाद के इसी क्रमिक विकास का अध्ययन करने के लिए उनके समस्त कहानी-साहित्य को विकास-क्रम की दृष्टि से तीन कालों में विभाजित किया है । प्रसाद का कहानी-काल सन् १९११ में प्रकाशित 'ग्राम' कहानी से प्रारम्भ होकर सन् १९३७ में प्रकाशित 'सालवती' के साथ समाप्त होता है । इस समस्त काल को निम्नलिखित तीन कालों में विभाजित किया गया है—

(१) प्रथम-काल   १९११ से १९२२ ई० तक
(२) द्वितीय काल   १९२३ से १९२९ ई० तक
(३) तृतीय काल   १९३० से १९३७ ई० तक

प्रथम काल की कहानियाँ 'छाया' और 'प्रतिध्वनि' में, द्वितीय काल की 'आकाश दीप' में तथा तृतीय काल की 'आँधी' और 'इन्द्रजाल' में संग्रहीत हुई हैं । यह प्रसाद-कहानी-साहित्य के विकास के तीन सोपान हैं जिनमें उनकी कहानी-कला का आरम्भ, विकास और चरमोत्कर्ष हुआ है । इस विकास में शिल्प-विधान में उतने गहरे परिवर्तन नहीं हुए हैं जितने कि प्रसाद के भाव-पक्ष में हुए हैं । इसका कारण यह रहा है कि प्रसाद की कहानियाँ सदैव भाव प्रधान रहीं हैं । इस विकास की सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि इसमें स्थूलता की अपेक्षा सूक्ष्मता की ओर ही कहानीकार का निरन्तर झुकाव होता चला गया है । डा० सत्येन्द्र ने इस विकास को इस प्रकार स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है—

"प्रसाद जी की प्रारम्भिक रचनाओं में किशोरीलाल गोस्वामी के द्वारा अपनायी गयी बंग-शैली के दर्शन होते हैं, जिसमें भावों को रंगीनी के स्थूल विकारों का प्रदर्शन करने के लिए शब्दों की रंगीनी का आश्रय लिया गया है । पर 'आकाश दीप' तक आते-आते उनके अन्तरस्थ कला के गहरे सागर के हृदय की झलक पूरी तरह उभर आयी और वे कल्पना के हिमधौत लोक में ऊँची चोटी पर उषा के रंग में रंग कर जा पहुँचे—हिमालय के पथिक बने, स्वर्ग के

खंडहरों में विचरे। वहाँ से करुणा तथा प्रेम की यथार्थ अनुभूति लेकर वे 'इन्द्रजाल' और 'आँधी' की रचना करने बैठे— उनकी दृष्टि शतधा हो गई, कल्पना की रंगीनी यथार्थ में से, जगत के जीवन में से, अस्पृश्य क्षेत्रों में से उड़ने लगी।" इससे स्पष्ट हो जाता है कि प्रसाद की कहानी-कला में उत्तरोत्तर विकास होता चला गया है जो निरन्तर स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ता चला गया है।

अब हम प्रसाद के कहानी साहित्य के उपर्युक्त तीनों कालों में हुए विकास एवं परिवर्तन को क्रमशः दिखाने का प्रयत्न करेंगे।

प्रथम काल—'छाया' और 'प्रतिध्वनि' नामक इस काल के संग्रहों में संग्रहीत कहानियों की कुल संख्या छब्बीस है। इनमें से कुछ ऐतिहासिक कहानियाँ हैं और कुछ काल्पनिक। परन्तु सभी हैं भावात्मक ही। सभी का धरातल भावुकता पूर्ण है। परन्तु कुल मिलाकर ये कहानियाँ हैं साधारण स्तर की ही। इन्हीं में उनकी 'ग्राम' नामक कहानी भी शामिल है जिसकी गणना हिन्दी की प्रथम मौलिक कहानियों में की जाती है। इनमें से काल्पनिक कहानियों में कथावस्तु बहुत सूक्ष्म है, भाषा आलंकारिक और क्लिष्ट है। इसलिए ये कहानियाँ कम और रेखाचित्र तथा गद्यकाव्य सी अधिक प्रतीत होती हैं। इनमें भावुकता की प्रधानता रहने के कारण ही इतिवृत्त सूक्ष्म और संकुचित हो गया है। कथानकों को विभिन्न भाव-चित्रों के माध्यम से प्रस्तुत किया है अतः उनमें संकेत और व्यंजना ही प्रमुख रही है। इन संकेतों और व्यंजनाओं की सहायता से कहानियों की संवेदनायें भी स्पष्ट हो जाती हैं और भाव-चित्र भी सजीव और सार्थक से प्रतीत होने लगते हैं। 'अघोरी का मोह', 'करुणा की विजय', 'गुदड़ी में लाल' आदि इसी कोटि की कहानियाँ हैं।

ऐतिहासिक कहानियों में कथावस्तु अपेक्षाकृत अधिक स्थूल और व्यवस्थित है। इनके कथानकों में आरम्भ, विकास और चरमोत्कर्ष के साथ-साथ एक-सूत्रता का पूर्ण निर्वाह मिलता है। किन्तु भाव की प्रधानता इन कहानियों में भी है। इन प्रारम्भिक कहानियों में कुछ ऐसी हैं जिनमें भावों के आधार पर किसी न किसी समस्या को उठाया गया है। जैसे 'अघोरी का मोह', 'करुणा की विजय' आदि। कुछ कहानियाँ केवल "भाव-दर्शन के धरातल पर" भाव चित्रों के

माध्यम से लिखी गई हैं। इनके कथानक अमूर्त, अस्पष्ट और संश्लिष्ट बन गए हैं जैसे 'प्रलय' नामक कहानी। ऐतिहासिक तथा सामाजिक कहानियों के कथानक इनमें सबसे अधिक सुगठित, स्पष्ट और पूर्ण बन पड़े हैं। उनमें एक सूत्रता, प्रवाह आदि सभी तत्वों का समावेश हो गया है, जैसे—'चन्दा', 'जहाँ-नारा', 'अशोक' तथा 'ग्राम' नामक कहानियाँ। इन कहानियों का आरम्भ प्रायः या तो संवाद द्वारा होता है या प्रकृति-वर्णन द्वारा। अन्त प्रायः प्रभावशाली रहे हैं।

चरित्र-चित्रण अथवा पात्रों की दृष्टि से इन कहानियों में दो प्रकार के पात्र मिलते हैं। प्रसाद पर बौद्ध दर्शन का गहरा प्रभाव था जिसने कारुणिक नारी-पात्रों की सृष्टि की। क्योंकि प्रसाद स्वयं स्वभाव से भावुक, सौन्दर्यप्रिय और प्रेमी थे इसलिए उनके पुरुष पात्र भावुक और प्रेमी रहे। इस प्रकार समग्र रूप से इन कहानियों के चरित्रों का निर्माण करुणा, प्रेम, आदर्श, बलि-दान, विद्रोह, क्षमा आदि की मिली-जुली रेखाओं से किया गया है। इन पात्रों में नारी-पात्र ही अधिक प्रभावशाली रहे हैं। अनेक प्रतिनिधि कहानियों की संचालिका और नियामिका नारियाँ ही हैं। ये नारियाँ पुरुषों को पतन की ओर प्रेरित न कर उनमें साहस और कर्त्तव्य की प्रेरणा भरती हैं। इनके पुरुष पात्रों में चारित्रिक दृढ़ता है, संवेदनशीलता है और उनके समस्त व्यक्तित्व में एक ऐसी अन्तर्मुखी भावधारा रहती है जिसमें विद्रोह, तड़प आदि के साथ करुणा की एक हल्की सी रेखा भी मिली-जुली रहती है। सर्वथा काल्पनिक अथवा प्रतीकात्मक कहानियों के चरित्र प्रायः छायावादी ढग के हो गए हैं। अन्य में व्यक्तित्व प्रतिष्ठा का प्रयत्न मिलता है। समष्टि रूप से इन कहानियों के चरित्र पूर्ण न होकर एकाङ्गी ही रह गए हैं। इसका कारण कल्पना का आधिक्य माना जा सकता है।

विषय की दृष्टि से इन कहानियों में पर्याप्त वैविध्य है। सुन्दर प्रकृति-चित्रण, सामाजिक कुरीतियों पर व्यंग्य, प्राचीन भारत के ऐश्वर्य का वर्णन, मुगलकालीन विलासिता का चित्रण, भारतीय विद्रोह और रोमानी वातावरण आदि परस्पर-विरोधी अनेक विषयों के दर्शन इन कहानियों में होते हैं।

शैली की दृष्टि से इनकी शैली नाटकीय ही अधिक रही है। कहानियों का

आरम्भ किसी दृश्य के वर्णन या दो पात्रों के कथोपकथन द्वारा होता है। आरम्भ में कहानी की मूल संवेदना का संकेत मिल जाना चाहिए परन्तु इस काल की कुछ कहानियों में तो यह संकेत मिल जाता है, जैसे 'तानसेन' में, परन्तु कुछ में नहीं मिल पाता। इस प्रकार इनमें कहानी के बीज-भाव की प्रतिष्ठा नहीं हो पाती। इन कहानियों में से अधिकांश छोटी और पूर्ण काल्पनिक हैं, इसलिए इस बीज-भाव का विकास भी नहीं हो पाता। गद्यगीत के समान इनमें केवल एक भाव या अनुभूति ही रहती है, समस्या या संवेदना नहीं। परन्तु चरमसीमा सर्वत्र अत्यन्त भावपूर्ण और ध्वन्यात्मक होती है जो पाठक को एकबारगी ही झकझोर देती है। यह चरम-सीमा चरित्र, उत्कर्ष और मनोवैज्ञानिक सत्य पर प्रतिष्ठित रहती है। चरम-सीमा पर आकर प्रारम्भ का उठाया हुआ प्रश्न पुनः सम्मुख आ खड़ा होता है।

लक्ष्य और अनुभूति की दृष्टि से इनमें मुख्य लक्ष्य सत्य-दर्शन का ही रहा है। परन्तु यह लक्ष्य सर्वत्र कारुणिक ही है। कहानी की चरम सीमा पर किसी घटना द्वारा करुणा की निष्पत्ति हो जाती है। सिकन्दर की शपथ, अशोक आदि इस काल की ऐतिहासिक कहानियों में भी चरम लक्ष्य करुणा की निष्पत्ति ही रहा है। परन्तु इस काल की अधिकांश कहानियाँ किसी अनुभूति से प्रेरित होकर लिखी गई हैं न कि किसी लक्ष्य से प्रेरित होकर। सौन्दर्यानुभूति और प्रेमानुभूति ही इस अनुभूति के केन्द्र-विन्दु है। इस काल की काल्पनिक कहानियों में, जैसे तानसेन, प्रलय, रसिया बालम आदि में अनुभूति की ही प्रेरणा प्रधान रही है। समष्टि रूप से इस काल की प्रायः समस्त कहानियाँ परिस्थिति-प्रधान ही रहीं हैं। इनमें संवेदना और मनोविज्ञान गौण तथा अनुभूतियों का चित्रण प्रधान रहा है।

द्वितीय काल—इस काल की कहानियाँ 'आकाश दीप' नामक संग्रह में संकलित हैं। कला और गाम्भीर्य की दृष्टि से ये कहानियाँ प्रथम काल की कहानियों से अधिक प्रौढ़, सुगठित, व्यापक और संवेदनशील हैं। इनकी कुल संख्या उन्नीस है। इनमें प्रथम-काल के 'छाया' और 'प्रतिध्वनि' संग्रहों की कहानियों का निश्चित विकास मिलता है। प्रेम इन कहानियों का प्रधान विषय रहा है। परन्तु इस प्रेम में गम्भीरता और विशालता है। आकाश दीप, स्वर्ग के खंडहर,

ममता, बनजारा, देवदासी, सुनहरा साँप, चूड़ी वाली, बिसाती और प्रणय-चिह्न कहानियाँ प्रेम की उत्कृष्ट और कलापूर्ण कहानियाँ मानी जा सकती हैं। परन्तु हिमालय का पथिक, प्रतिध्वनि, समुद्र सन्तरण, कला, अपराधी, वैरागी और रूप की छाया आदि कहानियाँ प्रथम काल की रेखाचित्र और गद्यगीत जैसी कहानियों के ही समान हैं यद्यपि इनमें कहानी-कला का अधिक विकसित रूप मिलता है। इनकी तुलना में प्रथम प्रकार की कहानियों में कहानी कला का रूप अधिक कलात्मक, प्रौढ़ और विकसित है। इनमें कल्पना और भावुकता का स्वस्थ और श्रेष्ठ समन्वय हुआ है। भावुकता इस काल की कहानियों की भी प्रधान विशेषता रही है।

कथानक की दृष्टि से 'आकाश दीप' आदि पहले प्रकार की कहानियों के कथानक अधिक लम्बे और 'हिमालय का पथिक' वर्ग की कहानियों के छोटे और प्रासंगिक हैं। संवेदनायें कई प्रसंगों के साथ इनमें आती हैं परन्तु सर्वत्र भाव की एकसूत्रता अक्षुण्ण रहती है। ये प्रसंग मुख्य संवेदना में और भी अधिक तनाव और गम्भीरता उत्पन्न कर एक अद्भुत नाटकीयता की सृष्टि कर देते हैं। सम्पूर्ण कथानक अपनी एकसूत्रता द्वारा मुख्य संवेदना को उकसा कर अन्त तक जिज्ञासा और कुतूहल को बनाये रखता है। कथानक के समग्र प्रभाव को और भी अधिक बढ़ाने में वर्णन, व्यंजना और सन्दर्भ आदि की सामूहिक सहायता ली गई है। इनमें बीज, विकास और फलागम की पूर्ण प्रतिष्ठा मिलती है। संक्षेप में इस काल की कहानियों में भारतीय नाटकीय-प्रणाली को ही अपनाया गया है। छोटे कथानकों वाली कहानियों में यह पद्धति नहीं अपनाई गई है। इनमें कथाओं का रूप कथात्मक कम और रूपात्मक अधिक रहा है। इन कथानकों का निर्माण घटनाओं से न होकर व्यंजनाओं के माध्यम से किया गया है। इसी कारण इनमें एकसूत्रता का अभाव मिलता है।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से इनमें सौन्दर्य और प्रेम की भावना से ओत-प्रोत पात्रों का चित्रण हुआ है जिन पर बौद्ध-दर्शन की करुणा की गहरी छाप है। लगभग सभी पात्र अपने भाव-जगत और आन्तरिकता में अधिक समीप हैं। इसी कारण उनमें अन्तर्द्वन्द्व की प्रधानता मिलती है। नारी-पात्रों में

करुणा और भावुकता अधिक आ गई है । पुरुष-पात्रों के चित्रण में कोई विशेषता नहीं दिखाई पड़ती क्योंकि इस काल की अधिकांश कहानियों में नारी-पात्रों की प्रधानता रही है ।

शैली नाटकीय अधिक हो गई है । कथा-सामग्री और वर्णन प्रथम-काल की कहानियों की अपेक्षा अधिक हैं । संक्षेप में इस काल की शैली में संयम और गठन अधिक पाया जाता है । कथोपकथन अधिक महत्वपूर्ण बन गए हैं । शैली में नाटकीयता अधिक आ गई है । लक्ष्य और अनुभूति की दृष्टि से इनका लक्ष्य करुणा की प्रतिष्ठा करना रहा है । यह बौद्ध दर्शन का प्रभाव था । प्रेम न कहानियों की विशुद्ध अनुभूति रही है ।

डा० लक्ष्मी नारायण लाल ने इस काल की कहानियों की समीक्षा करते हुए लिखा है—

"आकाश दीप की कहानियाँ मुख्य रूप से संवेदनात्मक कहानियाँ हैं, यहाँ परिस्थितियाँ गौण हैं और संवेदना की तीव्रता सबसे अधिक है । संवेदनायें मुख्य रूप से प्रेम के केन्द्र-विन्दु से चारों ओर फैली हैं । फलतः यहाँ कहीं प्रेमी प्रेमिका को लेकर नारी-पुरुष के प्रेम के चिरन्तन सत्य और प्रश्न को लेकर हुआ है, कहीं उपेक्षिता के प्रति प्रेम दिखाकर प्रेमियों को सदा के लिए अलग करके उन्हें मूक रहने की शिक्षा दी है । इस तरह प्रेम के धरातल पर चारों ओर बिखरी हुई संवेदनायें 'आकाशदीप' की कहानियों की आत्मायें हैं जो 'ममता' ऐसी विधवाओं, भिखारिन, संपेरिन, धीवर वाला, और चूड़ीवाली विलासिन ऐसी उपेक्षिताओं को अपने में समेटे हुए हैं ।"

तृतीय-काल—इस काल की कहानियाँ 'आँधी' और 'इन्द्रजाल' नामक संग्रहों में संकलित हैं । यह प्रसाद की कहानी-कला का चरमोत्कर्ष काल माना जाता है । यहाँ उनकी कहानी-कला पूर्णता को पहुँच गई है । विषय और शिल्प-विधान भी अपने सर्वोत्कृष्ट एवं विविध रूपों में दिखाई पड़ते हैं । इनमें प्रसाद ने जीवन को अधिक गहराई के साथ देखा है । इसी कारण इस काल की कहानियों में जीवन की जितनी अनेकमुखी भाव-भंगिमाओं का जितना गम्भीर और पूर्ण चित्रण हुआ है वैसा उनकी पहली कहानियों में नहीं मिलता । इन दोनों संग्रहों में पच्चीस कहानियाँ संकलित हैं । डा० लाल के शब्दों में—"इन पच्चीस कहा-

नियों में प्रप्रसाद ने मानव दर्शन, मनोभावों अनुभूतियों को अपनी कला में जितनी ईमानदारी से सँजोया है, वह अमूल्य है। छाया, प्रति ध्वनि की कहानियाँ तरुण रोमांटिक कवि के भाव-चित्र हैं। आकाश दीप की कहानियाँ विकसित होकर जीवन के प्रति एक जागरूक भावात्मक दृष्टिकोण उपस्थित करती हैं। लेकिन इस काल की कहानियों में जीवन-दर्शन की पैठ और कलात्मक स्तर की ऊँचाई, दोनों का संयोग अपूर्व है।

इस काल की कहानियों में भी दो प्रकार की कहानियाँ मिलती हैं—लम्बी तथा छोटी। ऐतिहासिक तथा काल्पनिक सवेदनाओं को लेकर लिखी गई सभी कहानियाँ लम्बी हैं जैसे—आँधी, पुरस्कार, इन्द्रजाल, सालवती, देवरथ, नीरा, दासी आदि। इसके विपरीत कुछ कहानियाँ छोटे-छोटे कथानकों को लेकर, जो पूर्ण और सफल हैं, रेखाचित्र की शैली में लिखी गई हैं, जैसे—भीख, परिवर्तन मधुआ, वेड़ी, घीसू, सन्देह आदि। इनके छोटे-छोटे कथासूत्रों में एक विशेष आकर्षण एवं कला का सौन्दर्य उत्पन्न हो गया है। लम्बी कहानियाँ समूचे युग को अपनी परिधि में समेट लेती हैं। छोटी कहानियों में भावभूमि अत्यन्त सीमित और सांकेतिक है। इनमें जीवन की यथार्थ समस्याओं को अपनाया गया है इसलिए इनकी शैली आधुनिक कलात्मक कहानियों जैसी हो गई है। इनमें सामाजिक संवेदनाओं का ही अङ्कन किया गया है जो अपने में स्वतन्त्र हैं।

इन कहानियों के पात्रों का व्यक्तित्व पूर्ण और स्पष्ट रूप से उभर कर आता है। इनमें कहीं रहस्यमयता नहीं रह जाती। इन पात्रों के निर्माण में प्रसाद के अपने कवि-दर्शन और बौद्ध-दर्शन का प्रभाव कार्य कर रहा है। नारी-पात्र आकर्षक, सौन्दर्य से वेष्टित और करुणा-कलित हृदय वाले हैं। पुरुष पात्र भावुक, सौन्दर्य-प्रिय और कर्मनिष्ठ हैं। इन कहानियों का प्रधान आकर्षण इनके पूर्ण व्यक्तित्व से मंडित पात्र ही हैं।

इस काल की शैली सामान्य रूप से पहले दो कालों के ही समान है परन्तु यथार्थवादी कहानियों में शैली की एक नवीनता दृष्टिगोचर होती है। यथार्थवादी चित्रण होने के कारण इन कहानियों का प्रारम्भ नाटकीय न होकर पूर्णतः स्वाभाविक और यथार्थ गति से हुआ है। प्रकृति-चित्रण में इस काल में अधिक

गम्भीरता आ गई है। उसमें 'सूक्ष्मता, चित्रात्मकता और भावाभिव्यंजना' का अधिक कलात्मक संयोग हुआ है। इन सबका प्रयोग मनोभावों की सफल व्यंजना के निमित्त ही किया गया है। कथोपकथनों में भी विकास दिखाई पड़ता है। उनमें नाटकीयता के साथ-साथ कहानी कहने की कला का भी समावेश हो गया है।

लक्ष्य और अनुभूति पहले के ही समान है। परन्तु उसमें व्यापकता और गंभीरता अधिक आगई है। अनुभूतियों की प्रधानता इनमें भी लक्षित होती है।

डा० लाल इस काल की कहानियों का धरातल मनोविज्ञान को मानते हुए संवेदनाओं और परिस्थितियों को उसकी वशवर्तिनी मानते हैं। "जहाँ मनोविज्ञान जीवन के विस्तृत क्षेत्र से तादात्म्य स्थापित करके आया है, वहाँ हमारे समाज, इतिहास और संस्कृति तीनों का सन्धि-स्थल प्रतिष्ठित हुआ है।" मनोविज्ञान की इस प्रधानता के ही कारण इस काल की कहानियों के चरित्र अधिक पूर्ण और सबल बन सके हैं। इस काल की कहानियों में जीवन, समाज, इतिहास और संस्कृति का चित्रण एवं तादात्म्य पहले की अपेक्षा अधिक हुआ है। यहाँ प्रसाद ने व्यक्ति को ही महत्ता प्रदान न कर व्यक्ति को समाज और समग्र जीवन के परिप्रेक्ष्य में देखा है। इसलिए इन कहानियों का चित्रण अधिक बहुरंगी, विस्तृत, व्यापक और प्रभावशाली हुआ है। इनमें विषय की विविधता दर्शनीय हैं। इनमें से 'चित्र मंदिर' प्रागैतिहासिक कहानी, 'दासी' और 'पुरस्कार' काल्पनिक ऐतिहासिक कहानियाँ हैं; 'नूरी', 'गुंडा', ऐतिहासिक सत्य का प्रतिपादन करती हैं; 'देवरथ' और 'सालवती' पतनोन्मुख बौद्ध समाज का चित्रण करती हैं; 'विराम-चिह्न' अपने युग की ज्वलन्त समस्या अछूतोद्धार का तथा 'सलीम' हिन्दू-मुस्लिम एकता का चित्रण करती हैं, 'बेड़ी', 'मधुआ', 'घीसू', 'नीरा', 'छोटा-जादूगर' दीन-दलित जीवन की झाँकी कराती हैं; 'इन्द्रजाल' में दलित के उत्थान का प्रयत्न है; तथा 'आँधी', 'चित्र वाले पत्थर', 'सन्देह', 'ग्राम गीत' आदि सफल एवं असफल प्रेम की कहानियाँ हैं। इस प्रकार इन कहानियों में प्रागैतिहासिक काल से लेकर वर्तमान काल तक की अनेक समस्यायें सिमट आई हैं। परंतु इन सम्पूर्ण

चित्रणों में प्रसाद का दृष्टिकोण सर्वत्र आदर्शवादी ही रहा है। उनके इस आदर्शवाद में रूढ़िपंथियों की सी हठधर्मी न होकर एक स्वस्थ और उदार प्रगतिशील दृष्टिकोण मिलता है।

प्रसाद के सम्पूर्ण कहानी-साहित्य के उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कई निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। उनकी सम्पूर्ण कहानियाँ भावात्मक होने के कारण कहानी-कला की वर्तमान कसौटी पर खरी नहीं उतर पातीं परन्तु फिर भी उनमें अपना एक ऐसा विशिष्ट आकर्षण एवं प्रभविष्णुता है जो सहज ही पाठक को अभिभूत कर लेती है और आलोचक भी अपने पूर्व-निश्चित कसौटी के मानदंडों को बदलने के लिए बाध्य हो जाता है। प्रायः सभी आलोचकों ने एक स्वर से इस सत्य को स्वीकार किया है कि प्रसाद की कहानी-कला सर्वथा मौलिक एवं प्रचलित कहानी-कला की कसौटी से नितान्त भिन्न है। अतः उनकी आलोचना एक नितान्त भिन्न एवं नवीन दृष्टिकोण के आधार पर ही की जा सकती है। उनकी विषय-वस्तु, कथानक, पात्र.शैली, उद्देश्य आदि सभी तत्व सर्वथा मौलिक हैं। इस सम्पूर्ण विवेचन को सार रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

प्रसाद की सम्पूर्ण कहानियों को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—ऐतिहासिक, काल्पनिक और यथार्थवादी (इनकी संख्या सबसे कम है)। ये सभी कहानियाँ भावात्मक तथा अनुभूति-प्रधान हैं। लक्ष्य की प्रधानता कुछ ही कहानियों में दिखाई पड़ती है। भाव-प्रधान होने के कारण उनका शिल्प-विधान सर्वथा भिन्न और मौलिक है। उनकी बड़ी कहानियाँ कहानी-कला की वर्तमान कसौटी पर खरी उतरती हैं, यद्यपि खींचतान करने पर ही। इनमें विषय की स्पष्टता और कथानक का समुचित विकास दिखाई पड़ता है। घटनाओं का भी प्राधान्य रहता है। परन्तु छोटी कहानियाँ इन दोनों ही क्षेत्रों में निर्बल हैं। उनमें अनुभूति की प्रधानता और काव्यात्मकता का ही प्राधान्य है। कथा-विकास की दृष्टि से लम्बी कहानियाँ अधिक सफल मानी जाती हैं और छोटी कहानियाँ असफल।

लम्बी-कहानियों में घटना और पात्रों का पूर्ण सामंजस्य और सहयोग मिलता है। वहाँ घटनायें और परिस्थितियाँ चरित्र के उद्घाटन में पूर्ण सहा-

यक होती हैं। उनके पात्र वर्ग-प्रतिनिधि कम और स्वतन्त्र व्यक्तित्व वाले अधिक हैं। उनमें बहिर्मुखता के स्थान पर आन्तरिक द्वन्द्वों के दर्शन अधिक होते हैं। ऐसे अन्तर्द्वन्द्वों के स्थलों पर मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की प्रधानता रहती है। परिस्थिति और पात्र की मानसिक स्थिति के अनुकूल उपयुक्त वातावरण का निर्माण करने में प्रसाद अद्वितीय माने जाते हैं। वातावरण का उनकी कहानियों में सदैव एक विशिष्ट स्थल एवं महत्व रहा है। ऐतिहासिक कहानियों का प्राण ही वातावरण रहता है और प्रसाद इस कला में पूर्ण सिद्धहस्त हैं, वे वातावरण का निर्माण वर्णन, संवाद और भावचित्रों द्वारा करते हैं। वर्णन-कौशल वातावरण निर्माण का सर्वाधिक महत्वपूर्ण अङ्ग माना जाता है। प्रसाद किसी भी प्रकार का वर्णन करने में इतने कुशल हैं कि उसका सजीव सा चित्र अङ्कित कर देते हैं।

प्रसाद नाटक-सम्राट माने जाते हैं और कथोपकथन नाटक का सर्वाधिक महत्व पूर्ण अंग माना जाता है। प्रसाद की कहानियों में उनकी उसी नाटकीय कथोपकथन शैली के समावेश ने उनके प्रभाव और सौन्दर्य में चार चाँद लगा दिए हैं। उनकी कहानियों के कथोपकथन सर्वथा नाटकीय होने के कारण संक्षिप्त, सारगर्भित, पात्रों के चरित्र का उद्‌घाटन करने वाले और कथा-विकास में पूर्ण सहयोगी रहते हैं। परन्तु कुछ प्रारम्भिक कहानियों में इनकी अतिशयता और लम्बाई उन्हें एकांकी नाटकों का सा रूप प्रदान कर देती है। पात्रों में अन्तर्द्वन्द्व का प्राधान्य रहने के कारण मनोविज्ञान का भी खूब उपयोग हुआ है।

प्रसाद की कहानियाँ संकलन-त्रय की अपेक्षा करती सी प्रतीत होती हैं। परन्तु उनमें प्रभाव की एकता अपने सम्पूर्ण कलात्मक रूप में मिलती है। समय और स्थान की एकता की ओर उन्होंने अधिक ध्यान नहीं दिया है।

प्रसाद के सम्पूर्ण कहानी-साहित्य की अपनी कुछ निराली विशेषतायें हैं जिन्हें संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

पहली विशेषता है ऐतिहासिक वातावरण की सफल सृष्टि। प्रसाद इतिहास के मर्मज्ञ थे इसलिए उनके सम्पूर्ण ऐतिहासिक चित्र और वर्णन यथार्थ, संगत और पूर्ण सजीव हैं। इस क्षेत्र में प्रसाद अद्वितीय माने जा सकते हैं। वे आजकल के कुछ तथाकथित ऐतिहासिक कहानीकारों के समान थोड़े से प्राचीन

भारी-भरकम, क्लिष्ट शब्दों का प्रयोग कर ऐतिहासिक वातावरण को पूर्ण बना देने में विश्वास नहीं करते थे।

प्रसाद की कहानी-कला की दूसरी विशेषता उनके पात्रों की चरित्र-सम्बन्धी मानी जा सकती है। उनके पात्र एक दृष्टि से किसी वर्ग के प्रतिनिधि से प्रतीत होते हुए भी उस वर्गगत चरित्र से नितान्त भिन्न रहते हैं। उन्हें मानसिक परिस्थितियों के जिन द्वन्द्वों में से गुजरना पड़ता है वह उन्हें वर्ग-प्रतिनिधि न रहने देकर एक सर्वथा स्वतंत्र रूप प्रदान कर देते हैं। परस्पर विरोधी विचारों के घात-प्रतिघात उन्हें सदैव उत्तेजित बनाये रखते हैं। 'पुरस्कार' की मधूलिका प्रेम और कर्तव्य के चरम द्वन्द्व में पड़ कर अपना जितना आकर्षण विकीर्ण करती है उतना अन्य किसी भी दशा में करने में असमर्थ रहती। ऐसे अवसरों पर प्रसाद की कहानी-कला अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँची प्रतीत होती है।

तीसरी विशेषता प्रसाद की भाव-प्रवणता है जिसने उनकी कहानियों को काव्य एवं गद्यकाव्य के समान स्निग्ध, सरस और कोमल बना दिया है। यह विशेषता हिन्दी के अन्य किसी भी कहानीकार में नहीं मिलती। चौथी विशेषता यह है कि प्रसाद यद्यपि आदर्शवादी थे परन्तु उनका यह आदर्शवाद सर्वत्र व्यावहारिक और ग्राह्य ही रहा है। हमें उसका क्रियात्मक रूप ही मिलता है न कि उपदेशात्मक। उनका आदर्श सदैव ध्वनित या व्यंजित ही रहता है। इसलिए वह अधिक प्रभावशाली और मनोरम बन जाता है।

अन्त में प्रसाद की भाषा-शैली के विषय में भी दो शब्द। क्योंकि प्रसाद की कहानियों का सम्पूर्ण सौन्दर्य और आकर्षण उनकी उस भाषा-शैली में ही छिपा रहता है जो हिन्दी कहानी-साहित्य में सर्वथा मौलिक और अद्वितीय मानी जाती है। यदि प्रसाद अपने भावों, विचारों, अनुभूतियों के चित्रण के लिए अपनी विशिष्ट काव्यमयी भाषा और शैली का उपयोग न करते तो उनकी कहानियों का सारा आकर्षण और सौन्दर्य मारा जाता। प्रेमचन्द की शैली प्रसाद की इन कहानियों के लिए सर्वथा अनुपयुक्त रहती।

इन कहानियों में प्रसाद की भाषा के दो रूप मिलते हैं—एक रूप उनकी ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक कहानियों में मिलता है, तथा दूसरा सामाजिक कहानियों में। प्रथम प्रकार की भाषा संस्कृत-गर्भित, स्निग्ध, अलंकारमयी और

लक्षणा-व्यंजना शक्तियों से ओतप्रोत रहती है। दूसरे प्रकार की भाषा साधारण बोलचाल के स्तर पर उतर आती है परन्तु उसकी चित्रांकन शक्ति और व्यंजना शक्ति में तनिक भी अन्तर नहीं आ पाता। प्रसाद कहानी की संवेदना के अनुरूप ही वातावरण प्रस्तुत करने में भाषा शैली की दृष्टि से इतने कुशल एवं समृद्धिशाली कलाकार हैं कि उनकी भाषा कहीं भी अपनी गरिमा से च्युत नहीं हो पाती। उनकी पहली प्रकार की भाषा उनके नाटकों की भाषा जैसी ही प्रांजल, ओजमयी, गरिमा युक्त तथा प्रभावशालिनी है। उसमें एक अद्‌भुत प्रवाह है जो कहीं मन्द-मन्थर और कहीं झंझा के समान वेगशाली बन जाता है। इसमें काव्यात्मकता, सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि और कलात्मक सौष्ठव एवं ऐश्वर्य का अद्वितीय रूप दिखाई पड़ता है। "इसमें एक ओर भाषा की लाक्षणिकता, व्यंजकता के साथ-साथ उपमा रूपक की प्रचुरता मिलती है तथा दूसरी ओर विभिन्न रंगों और रसों में डूबे हुए शब्द जाल मिलते हैं।" सामाजिक कहानियों की भाषा साधारण बोलचाल की है। "फलतः प्रसाद की कहानी की भाषा-शैली में कवि की कल्पना, नाटककार का विश्लेषण और निबन्धकार के चिन्तन, तीनों का सुन्दर समन्वय है।"

सुदर्शन

इकहरा शरीर, यूक्रेन नक्षत्र की आकृति, नाक कुछ ऊपर उठी हुई, चेहरे पर एक गहरी गम्भीरता की छाप, नाक पर चश्मा, आँखों में एक हल्की सी चमक—प्रो० वासुदेव के शब्दों में हिन्दी-कहानी-साहित्य में प्रेमचन्द के सफल उत्तराधिकारी सुदर्शन का परिचय है । वास्तविक नाम बदरीनाथ और साहित्यिक नाम सुदर्शन के अधिकारी सुदर्शन हिन्दी-कहानी-साहित्य की शीर्ष-मणियों में से माने जाते हैं । बी० ए० तक शिक्षा पाकर ये साहित्य-साधना की ओर झुके । कहानी लिखने की प्रतिभा इनमें जन्मजात सी थी । इन्होंने छठी कक्षा से ही उर्दू में कहानियाँ लिखना प्रारम्भ कर दिया था और तब से अद्यावधि निरन्तर लिखते चले आरहे हैं । प्रेमचन्द के समान ये भी उर्दू से हिन्दी में आए थे ।

हिन्दी के अनेक सुप्रसिद्ध कहानीकार जैसे प्रेमचन्द, अमृतलाल नागर आदि सिने-संसार में कार्य करने गए परन्तु कुंठित होकर लौट आए । सुदर्शन इसके अपवाद हैं । वे एक लम्बे समय से सिनेमा में कथा, संवाद, गीत लिख रहे हैं और अभी तक वहीं सफलता पूर्वक डटे हुए हैं । साथ ही हिन्दी-संसार उनकी अनेकानेक उच्चकोटि की कलात्मक यथार्थवादी कहानियों का भी रसास्वादन करता रहता है । मिनर्वा मूवीटोन के प्रसिद्ध ऐतिहासिक चित्र सिकन्दर के संवाद और गीत सुदर्शन ने ही लिखे थे ।

हिन्दी-कहानी क्षेत्र में सुदर्शन को प्रेमचन्द-संस्थान का, प्रेमचन्द के उपरान्त सर्व श्रेष्ठ कहानीकार और प्रेमचन्द की कहानी-कला का प्रतिनिधि उत्तराधिकारी माना जाता है । ख्याति एवं लोकप्रियता की दृष्टि से प्रेमचन्द

के पश्चात् इन्हीं का स्थान आता है। प्रेमचन्द के समान सुदर्शन भी पहले उर्दू में कलम माँजकर तब हिन्दी में आये थे। हिन्दी में इनका रचनाकाल सन् १९२० से प्रारम्भ हुआ माना जाता है जब 'सरस्वती' में इनकी पहली हिन्दी कहानी प्रकाशित हुई थी। सुदर्शन यद्यपि माने तो प्रेमचंद के उत्तराधिकारी जाते हैं परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि इन्होंने अपनी कहानी-कला में पूर्णतः प्रेमचन्द का ही अनुकरण किया था। यह सत्य है कि इनकी कहानी-कला मूल रूप से प्रेमचन्द की कहानी-कला का एक दूसरा रूप है परन्तु अपनी एक विशिष्ट मौलिकता लिए हुए। इनकी कहानियों में हमें सचेतन कला की विजय दिखाई पड़ती है जिसके द्वारा कहानीकार अपनी कहानी के रूप में किसी महान सत्य की व्यंजना करता है।

परिमाण की दृष्टि से सुदर्शन ने बहुत कहानियाँ लिखी हैं जो उनके निम्न-लिखित दस सँग्रहों में सँकलित हैं—

१—सुदर्शन सुधा, २—सुदर्शन सुमन, ३—तीर्थ यात्रा, ४—पुष्पलता, ५—गल्प मंजरी, ६—सुप्रभात, ७—चार कहानियाँ, ८—परिवर्तन, ९—नगीना, और १०—पनघट।

इन संग्रहों में उनकी छोटी-बड़ी सभी प्रकार की कहानियाँ संकलित हैं। सुदर्शन की कुछ कहानियाँ तो बहुत लम्बी हैं, जैसे पत्थरों का सौदागर, तथा फरउन का प्रेम। ये क्रमशः १८ और १२ अनुच्छेदों में समाप्त होती हैं। डा० लक्ष्मीनारायण लाल इन कहानियों को 'विकसित लघु उपन्यास' कहना अधिक संगत समझते हैं। इन लम्बी कहानियों में बड़ी कलात्मक वर्णनात्मकता के दर्शन होते हैं। इनमें मानव हृदय की चिरन्तन सत्यता का बड़ा सुन्दर एवं भावात्मक आकर्षण है। सुदर्शन की मानव के दैनिक-जीवन के विविध पक्षों का उद्घाटन करने वाली कहानियाँ अपेक्षाकृत छोटी हैं। इनमें व्यक्ति और समाज की सामान्यतम घटनाओं, समस्याओं तथा जीवन की परस्पर विरोधी विभिन्न परिस्थितियों का चित्रण किया गया है। सूक्ष्म मनोविश्लेषण उनकी विशेषता मानी जाती है। सूरदास, मास्टर, आत्माराम, सन्यासी, सदा-सुख, हेर-फेर आदि इस वर्ग की कहानियाँ हैं।

प्रेमचन्द के ही समान सुदर्शन भी कलावादी कहानीकार नहीं थे। वे कला को मानव जीवन के लिए मानते थे न कि कला को कला के लिए। इसी कारण सुदर्शन की कहानियों का आधार यथार्थ का रहता है परन्तु अन्त में किसी-न-किसी आदर्श की स्थापना अवश्य की जाती है। यह प्रेमचन्द का वही आदर्शोन्मुख यथार्थवाद है। प्रेमचन्द की अधिकाँश कहानियों के समान ही सुदर्शन की कहानियों में वातावरण की प्रधानता मिलती है। डाक्टर श्री कृष्णलाल तो इन्हें हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ वातावरण-प्रधान कहानी लेखक मानते हैं।

यहाँ हमें कहानी-कला सम्बन्धी सुदर्शन के दृष्टिकोण को भी समझ लेना चाहिए। उन्होंने 'कहानी की कहानी' नामक एक निबन्ध में इस विषय का विवेचन किया है। एक स्थान पर आप लिखते हैं—"वर्तमान युग का कहानी लेखक बाहर का कहानी-लेखक नहीं, अन्दर का कहानी लेखक है। दुनिया को देखने वाले बहुत हो चुके हैं, अब दिल और घर को देखने वालों की जरूरत है।" इस कथन का अभिप्राय यह है कि अब कहानी-लेखकों को घटना-प्रधान मनोरंजक कहानियों के स्थान पर ऐसी कहानियों का निर्माण करना चाहिए जो व्यक्ति और उसके सामाजिक एवं वैयक्तिक जीवन का मनोवैज्ञानिक, यथार्थ और संवेदनशील चित्रण कर सकें। सुदर्शन कहानी में खुले उपदेश का होना वांछनीय नहीं समझते। उन्हीं के शब्दों—"कहानी में खुला उपदेश न हो। कहानी से उपदेश मिल जाय, यह दूसरी बात है; परन्तु उसमें प्रकट रूप से उपदेश आया और कहानी कला-हीन हुई।" कहानी में खुले उपदेश का होना तो किसी भी समझदार लेखक ने स्वीकार नहीं किया है क्योंकि साहित्य-मात्र का उद्देश्य खुला उपदेश देना नहीं होता।

परन्तु साथ ही सुदर्शन कहानी का निरुद्देश्य होना स्वीकार नहीं करते। उनका स्पष्ट कहना है कि —"हमें ऐसी कहानियाँ चाहिए जिनका प्रभाव राष्ट्र और समाज पर अमिट हो और यह तभी हो सकता है जब हमारे समाज और राष्ट्र की बातें ही कहानी में हों।" सुदर्शन के इस मन्तव्य से स्पष्ट है कि वे व्यक्तिवादी कहानीकार न होकर समष्टिवादी हैं। वे व्यक्ति को महत्व तो अवश्य देते हैं परन्तु एक सामाजिक इकाई के रूप में ही। समाज से कटे हुए व्यक्ति का उनकी दृष्टि में कोई मूल्य नहीं है। इसी कारण सुदर्शन जीवन और जगत

के चितेरे बने हैं न कि मनोवैज्ञानिक कहानीकारों के समान मानव मन की ग्रन्थियों और कुंठाओं के कलाकार।

सुदर्शन की इसी विशेषता का उद्घाटन करते हुए एक आलोचक ने लिखा था—"पं० सुदर्शन की कहानियों में हमें जीवन की व्याख्या मिलेगी। उनके पात्र हमारे दैनिक जीवन से सम्बन्ध रखने वाले होते हैं। और साथ ही कहानी की पाठ्य सामग्री भी हमारी आँखों से गुजरने वाली क्रिया में नित्य अभिव्यक्त होती है। कहानी, सुदर्शन की दृष्टि में, हमारे जीवन की, युग की, समाज की मीमांसा है, हमारी समस्याओं का हल है। वहाँ न तो नीलमपरी की कल्पना का अस्तित्व ही दीख पड़ेगा, और न यथार्थ जीवन के नरककुंड, जिन्हें आज के प्रगतिशील साहित्यिक जीवन का एक विशेष दृष्टिकोण बना बैठे हैं। संक्षेप में उनकी कहानियों के बारे में यही कहना होगा कि सुदर्शन की कहानियाँ मानव-जीवन की कहानियाँ हैं, जहाँ यथार्थ अपने व्यापक रूप में है, उसका रूप संकरा नहीं है।" सुदर्शन यथार्थवादी कहानीकार हैं परन्तु उनकी कहानियों में यथार्थ का वह नग्न और वीभत्स रूप नहीं दिखाई पड़ता जो उग्र की विशेष रूप से और भगवती चरण वर्मा आदि की कहानियों में साधारणतः पाया जाता है। उनका यथार्थ मन में विद्रोह की भावना तो अवश्य उत्पन्न कर देता है परन्तु साथ ही उसमें एक ऐसा संयम एवं सन्तुलन बना रहता है जो पाठक को उन चित्रित समस्याओं आदि के विषय में सोचने-विचारने के लिए अधिक बाध्य करता है।

सुदर्शन यथार्थ-चित्रण में तो विश्वास करते हैं परन्तु कुछ उग्र विचारों वाले मार्क्सवादी कहानीकारों के समान विप्लव और अशान्ति में उनकी आस्था नहीं है। वह मानव के दुखों का मूल कारण यह मानते हैं कि मानव पथभ्रष्ट होने के कारण हृदय के नैतिक मूल्यों को खो बैठा है। संसार में शान्ति की स्थापना इन्हीं खोए हुए नैतिक मूल्यों की स्थापना द्वारा ही सम्भव है। नैतिक मूल्यों के प्रति अत्यधिक आग्रह का प्रतिफलन उनकी उन कहानियों में हुआ है जो रूपक कथा तथा पौराणिक कथाओं की पद्धति पर लिखी गईं हैं।

नैतिक मूल्यों का महत्व तथा उनकी पुनः स्थापना का सबसे सशक्त और कलात्मक चित्र उनकी 'हार की जीत' नामक कहानी में उभर कर आया है।

इसमें कथानक यथार्थ जीवन के पहलू को छूता हुआ आगे बढ़ता है, उसका आदर्श से द्वन्द्व होता है तथा अन्त में आदर्श की स्थापना हो जाती है। इस कहानी द्वारा सुदर्शन के उपर्युक्त इस वक्तव्य की भी पुष्टि हो जाती है कि कहानी में उपदेश प्रच्छन्न रूप में ही रहना चाहिए। इस कहानी में बाबा भारती का यह कथन कि—"लोगों को यदि इस घटना का पता लग गया तो वे किसी गरीब पर विश्वास न करेंगे।" 'चोरी करना पाप है' इस नैतिक मूल्य का उद्‌घाटन करता है और साथ ही प्रच्छन्न उपदेश भी देता है। दो परस्पर विरोधी विचारधाराओं वाले चरित्रों के विश्लेषण द्वारा ही कहानीकार को अपने इस प्रयास में सफलता मिल सकती है।

कहानी-कला की दृष्टि से सुदर्शन हिन्दी के शीर्ष स्थानीय कहानीकारों में माने जाते हैं। इनकी कहानियों में कथानक, चरित्र और उद्देश्य का अद्‌भुत सामंजस्य मिलता है। इनमें कहानी-कला के एक भी तत्व की अवहेलना नहीं की जाती। इनके कथानक सुगठित, सन्तुलित और सोद्देश्य होते हैं। इनका प्रारम्भ बड़े मार्मिक ढंग से किया जाता है। इनमें चरम-सीमा की वह स्थिति प्राय: नहीं मिलती जो चमत्कृत कर देती है। फिर भी अनेक कहानियों में चरम-स्थिति की अवतारणा ऐसे कलात्मक ढंग से की गई है जो साथ ही कहानी का उद्देश्य भी बन जाती है, जैसा कि 'हार की जीत' नामक कहानी में हुआ है।

पात्रों का चरित्र-चित्रण करने में सुदर्शन कुशल हैं। उनके पात्र सर्वत्र विकासशील दिखाई पड़ते हैं। सुदर्शन अत्यन्त कलात्मक ढंग से अपने पात्रों के अन्त: रहस्यों का उद्‌घाटन करते चलते हैं। वे साधारण चरित्र को उभार देते हैं, साधारण से साधारण घटना को मार्मिक बना देते हैं, सूक्ष्म से सूक्ष्म भाव एवं मनोवृत्ति का ऐसा सुन्दर और प्रभावशाली विश्लेषण करते हैं कि पात्र का चरित्र क्रमश: स्पष्ट और आकर्षक बनता चला जाता है। वे अपने ही शब्दों में 'दिल और घर' को बड़ी बारीकी, आत्मीयता और सतर्कता के साथ देखते हैं। इसी कारण उनके पात्र हमें प्रभावित करते हैं। वे मानव-मनोविज्ञान का बड़ा सुन्दर, व्यावहारिक और क्रियात्मक रूप प्रस्तुत करते हैं। मानव-कुंठाओं मात्र का ही उद्‌घाटन करने में उनकी आस्था नहीं है।

वातावरण का निर्माण करने में सुदर्शन बहुत कुशल हैं। प्रसाद, गोविन्द-वल्लभ पन्त, राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह आदि ने अपनी कहानियों में 'कवित्वपूर्ण वातावरण' का रूप दिया है। सुदर्शन ने अपनी यथार्थवादी भावनाओं का यथार्थवादी वातावरण में चित्रण किया है। इसी कारण डा० श्री कृष्णलाल इन्हें वातावरण प्रधान कहानी-लेखकों में सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। इनके यथार्थवादी वातावरण सर्वत्र लाक्षणिक सौन्दर्य से परिपूर्ण रहते हैं। वस्तुतः सुदर्शन अपनी यथार्थवादी भावनाओं को अभिव्यक्त करते समय सदैव यथार्थवादी वातावरण, परिस्थिति और चरित्रों की ही अवतारणा करते हैं।

संवाद लिखने में भी सुदर्शन की गणना हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कहानीकारों में की जाती है। उनके संवाद सर्वत्र पात्र एवं परिस्थिति के अनुरूप, स्वाभाविक, सजीव, सरल और सारगर्भित होते हैं। सुन्दर वाक्-चातुर्य से ओत-प्रोत संवादों द्वारा चरित्र और मनोभावों का सफल उद्घाटन, कथानक का विकास और वातावरण का सफल निर्माण करने में सुदर्शन सिद्धहस्त हैं।

भाषा-शैली की दृष्टि से सुदर्शन और प्रेमचन्द में बहुत समानता है। ये दोनों ही उर्दू से हिन्दी में आए थे। इसलिए सुदर्शन की भाषा में उर्दू के वे सभी स्पृहणीय गुण आ गए हैं जो हिन्दी में समाहित होकर उसके स्वरूप एवं प्रभाव को और भी अधिक बढ़ा देते हैं। कुछ आलोचक सुदर्शन की भाषा को प्रेमचन्द की भाषा से भी अधिक साफ-सुथरी मानते हैं। एक ऐसे ही आलोचक के शब्दों में—"सुदर्शन की भाषा बड़ी सरल, स्वाभाविक, व्यावहारिक-साहित्यिक-सौष्ठव-सम्पन्न भाषा है, जिसमें मुहावरेदानी भी है, रोचकता भी, चटपटापन भी, चुटीलापन भी और संजीदगी भी। उनकी भाषा के इस स्वरूप से उनकी कहानियाँ बड़ी आकर्षक बन गई हैं।"[1]

संक्षेप में—"सुदर्शन की कहानी शैली में वही चमत्कार है, जो प्रेमचन्द की शैली में है। उनकी उर्दू मिश्रित हिन्दी लगभग उतनी ही सरस है, चरम सीमा उतनी ही ओजपूर्ण है किन्तु वातावरण, कथानक और पात्र-पात्री के चित्रण में ये प्रेमचन्द से अधिक कल्पना शील और आदर्शवादी हैं। इस दिव्यता

१—हिन्दी कहानी—प्रो० रा० दीक्षित।

के कारण इनका आदर कदाचित् संघर्ष में फँसे हुए साधारण श्रेणी के पाठकों में न हो, परन्तु मध्यम वर्ग के समाज में अवश्य होता रहेगा।" (कालिदास-कपूर)

सुदर्शन ने शिल्पगत कुछ नवीन प्रयोग भी किए हैं जो प्रेमचन्द के शिल्प से भिन्न और श्रेष्ठ हैं। उन्होंने विभिन्न पात्रों के मुख से आत्म-कथन करा कर तथा कहानी की विभिन्न घटनाओं, विकास क्रमों के आत्म-वर्णनों से सम्पूर्ण कहानी का गठन एवं निर्माण किया है। इस शिल्प की प्रधान विशेषतायें ये हैं कि इसमें चरित्रों का आत्म विश्लेषण, कथानक की सूक्ष्मता, कहानी की समस्या में द्वन्द्व का प्राधान्य रहता है। 'कवि की स्त्री' और 'दो मित्र' कहानियों की रचना में उनके इसी नवीन शिल्प-विधान का चमत्कार दिखाई देता है।

भगवतीचरण वर्मा

"साढ़े चार फीट लम्बे, गठे बदन पर खादी की धोती, खादी का कुरता, सर पर खादी की टोपी, पैर में कानपुरी चप्पल और आँखों पर काँटे-दार चश्मा—यह हैं मुंशी भगवतीचरण वर्मा। भगवती बाबू की तेजी उनकी दोनों आँखों से टपकती है, जब कभी वे विस्फारित नेत्रों से देखते हैं। उनकी बड़ी-बड़ी गोल आँखें एक प्रकाश सा उगल उठती हैं—एक ज्वाला··· माथा किसी भी गिरजाघर के बिन्दु की भाँति उन्नत है। लेकिन गाल पान की गिलौरी और सुर्खी की ज्यादती के कारण प्लेटो के ऊबड़-खाबड़ मैदान की भाँति भद्दे और कुरूप दीखते हैं।"

ऐसे हैं हिन्दी के सुप्रसिद्ध कहानीकार भगवतीचरण वर्मा जिनका अपने विषय में निजी ख्याल यह है कि—"मैं कवि बाद में हूं, कहानी-लेखक और उपन्यास-लेखक पहले हूँ।" यद्यपि हिन्दी-संसार को उनका परिचय पहले-पहल एक उदीयमान कवि के रूप में ही प्राप्त हुआ था। भगवती बाबू बी० ए०, एल० एल० बी० तक शिक्षा प्राप्त कर साहित्य-साधना और वकालत में जुट गए। उन्होंने कविता सन् १९१७ से ही लिखनी प्रारम्भ कर दी थी और उनकी पहली कहानी १९२१ में प्रकाशित हुई थी। उन्होंने प्रारम्भ में कुछ कहानियाँ लिख कर इस क्षेत्र से मुँह मोड़ लिया और कविता लिखने में ही व्यस्त रहे। और एक सफल कवि के रूप में उनकी ख्याति भी खूब फैली। १९२९ से वे पुनः कथा-साहित्य की ओर झुके और 'पतन' नामक उपन्यास से उन्होंने अपना कथाकार का जीवन फिर से प्रारम्भ किया। उपन्यासों के साथ उनकी

लेखनी से उच्चकोटि की मार्मिक व्यंग्यात्मक कहानियों का भी सृजन होने लगा। और सन् १९३१ से उनका कहानी-लेखन का कार्य आज तक अनवरत रूप से चलता चला आ रहा है। अब तक उनके तीन कविता-संग्रह—मधुकण, प्रेम-सङ्गीत, मानव, छः उपन्यास—पतन, चित्रलेखा, तीन वर्ष, टेड़े-मेढ़े रास्ते, आखिरी दाँव, भूले बिसरे चित्र; तथा तीन कहानी संग्रह—इन्स्टालमेंट, दो बांके और मेरी उलझनें प्रकाशित हो चुके हैं। आज के भगवतीचरण वर्मा हिन्दी में एक सफल उपन्यासकार और एक अत्यन्त उच्चकोटि के कहानी-लेखक के रूप में अधिक परिचित और प्रसिद्ध हैं।

वर्मा जी के उपन्यासों में 'पतन' और 'आखिरी दाँव' को छोड़ कर शेष चार अत्यन्त लोकप्रिय और प्रसिद्ध रहे हैं। उनके नवीनतम उपन्यास 'भूले बिसरे चित्र' की गणना पिछले दशक के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासों में की जाती है। उनके उपन्यासों के समान उनकी कहानियाँ अधिक लोकप्रिय नहीं बन सकीं हैं परन्तु उनकी कहानियों की प्रसिद्धि, उत्कृष्टता, कलात्मकता और लोकप्रियता का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि हिन्दी-कहानी का कोई भी प्रसिद्ध संग्रह उनकी कहानी के बिना पूर्ण नहीं माना गया है।

"अहं अस्तित्व है—अहं को तुष्ट करना जीवन है," सिद्धान्त को मानने वाले भगवती बाबू ऊपर से सुखवाद के अनुयायी प्रतीत होते हैं परन्तु वे मानव के अहं को असीम विस्तार देने में अधिक विश्वास करते हैं। उनके मतानुसार मानव पशु न होकर सामाजिक प्राणी होने के कारण एक दूसरे से प्रगाढ़ रूप से सम्बद्ध रहता है। ऐसी स्थिति में उसका सुख उसी तक सीमित न रह कर सारे मानव-समाज का सुख बन जाता है। वर्माजी स्वयं कहते हैं—

"हम पशुता से ऊपर उठे हुए मनुष्य हैं, हमें दूसरों से सम्बद्ध हो जीना है। सीमित और सकुचित अहं पशुता के निकट और मानवता से दूर है; उस अहं को विकसित नहीं करना है। हममें कोमल और कल्याणकारी प्रवृत्तियाँ मौजूद हैं, हम उन्हें विकसित कर सकते हैं, क्योंकि दूसरों के सुख में सुख पाने की एक दबी हुई अन्तःप्रेरणा हर मनुष्य में है।··· अहं को इतना अधिक विकसित करना है कि वह सारी दुनियाँ को ढक ले; सारी दुनियाँ को निजत्व

के अन्दर कर लेना—यही अहं को असीमित्व प्रदान करना है। अपना हित अपना सत्य, दूसरों का हित मानवता का सत्य है। अपना सत्य और मानवता के सत्य को एक रूप कर देना ही अहं को असीमित्व प्रदान करना है।"

ऐसे असीमित अहं वाले वर्माजी बुद्धिवादी होने के कारण घोर नास्तिक हैं। उनकी न धर्म पर आस्था है और न उपासना में श्रद्धा। इसी कारण आप घोर विद्रोही बन गए हैं। सड़ी-गली सामाजिक मान्यताओं पर भयंकर प्रहार करना उनके साहित्य का लक्ष्य बन गया है। वर्माजी के इस जीवन-दर्शन का कारण यह रहा है कि उन्होंने कच्ची उमर से ही जीवन के भयानक संघर्षों के थपेड़े सहे हैं, उन्हें झेला है परन्तु कभी भी अपने आत्म-सम्मान और अहं को पराजित नहीं होने दिया है। एक जीवन्त कलाकार की शक्ति सदैव उनकी धमनियों में प्रवाहित होती रही है। वर्तमान जीवन एवं समाज-व्यवस्था के प्रति उनके मन में भयंकर आक्रोश है जो उनके सम्पूर्ण साहित्य में एक सुन्दर, स्वस्थ, सशक्त कला-माध्यम से गूँजता रहा है। वर्माजी—"हिन्दी साहित्य की उन शक्तियों में से है जिनके व्यक्तित्व और साहित्य में बिजली की तेजी है, जिनकी भाषा जल-प्रवाह की तरह या गायन की स्वर-लहरी की तरह मानव-मन को स्पन्दित करती है, एक उद्वेलन पैदा करती है। उनके साहित्य में लेखक के जीवन, परिस्थितियों की भयानक कुरूपता, उनकी विषमता और इन सब के प्रति कला के आक्रोश का आह्वान सुनाई पड़ता है।"

उनकी कला के आक्रोश का यह आह्वान उनकी कहानियों में सर्वाधिक सशक्त रूप से सुनाई पड़ता है। उनकी कहानियों में जीवन की कुरूपताओं और उसके वाह्य संघर्षों का यथार्थ चित्रण हुआ है। जीवन की कुरूपताओं का दर्शन करा कर सुन्दरता के प्रति सचेत करना ही उनकी कहानियों का प्रधान लक्ष्य है। इनमें वर्तमान पाश्चात्य-सभ्यता से ग्रसित समाज और उस समाज में रहने वाले पुरुष और नारियों के विशृंखलित जीवन का नग्न और यथार्थ चित्रण किया गया है। परन्तु इस नग्न और यथार्थ चित्रण में सर्वत्र एक पराजय एवं असहायता की भावना मिलती है। वर्माजी भाग्यवादी तो नहीं हैं परन्तु परिस्थिति को सर्व शक्तिमान स्वीकार कर मानव को उसका दास मात्र मानते हैं। परिस्थिति के भयंकर जाल में जकड़े हुए उनके पात्र इसी कारण सर्वत्र पराजय और

विवशता की भावना में ग्रस्त बने रहते हैं और इस संघर्ष में सदैव पराजित होते रहते हैं। उनकी अनेक कहानियाँ इसी कारण दुखान्त हैं। 'कायरता', 'विवशता', आदि कहानियों के पात्र परिस्थिति से लड़ने में स्वयं को असमर्थ पाते हैं और इस संघर्षमय जीवन से मृत्यु को अधिक अच्छा समझने लगते हैं।

वर्माजी के उपर्युक्त दृष्टिकोण को यथार्थ मानते हुए भी स्वस्थ नहीं माना जा सकता। यदि मानव सदैव परिस्थितियों का ही दास बना रहता तो आज उसने जो प्रगति की है वह कदापि न कर पाता। मानव-विकास का इतिहास परिस्थितियों पर मानव की विजय का इतिहास रहा है। आज का मानव भी निरन्तर परिस्थितियों से संघर्ष करता हुआ उन पर विजय पा आगे बढ़ता चला जा रहा है। परन्तु वर्मा जी का मानव सर्वत्र और सदैव परिस्थितियों से त्रस्त होकर उनके सम्मुख आत्म-समर्पण कर अपनी पराजय स्वीकार कर लेता है। वर्माजी का यह पराजयवादी दृष्टिकोण उनकी कहानियों में निर्मम एवं तीखे व्यंग्य का सौंदर्य तो उत्पन्न कर देता है परन्तु परिस्थितियों पर विजय पाने या समस्याओं को सुलझाने का कोई रास्ता नहीं बता पाता। इसी कारण वर्माजी की प्रायः सभी कहानियाँ अन्त में पाठक के लिए एक प्रश्न चिह्न सा बन जाती हैं।

नारी को वर्माजी की कहानियों में प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ है। वर्तमान भारतीय नारी के करुण रूप के अनेक हृदयद्रावी, प्रभावक चित्र उनकी कहानियों में अपनी पूर्ण संवेदना के साथ चित्रित हुए हैं। भारतीय नारी उनकी करुणा और सहानुभूति की पूर्ण अधिकारिणी है। परन्तु उनकी यह सहानुभूति और करुणा केवल इसी कारण है कि भारतीय नारी प्रकृति से निर्बल और असहाय है। उसे पुरुष की गुलामी करनी ही पड़ेगी। प्रेम पुरुष के लिए एक क्षणिक भावना मात्र है और नारी के लिए उसका सम्पूर्ण अस्तित्व। इसी कारण वह पुरुष से सदैव पराजित होती आई है। नारी के प्रति वर्मा जी का यह दृष्टिकोण उसी पराजयवादी भावना पर आधारित है जिसके अनुसार वे परिस्थिति को सर्वशक्तिमान मानते हैं। यही कारण है कि वर्माजी आधुनिक नवीना को अपनी सहानुभूति प्रदान करने में असमर्थ रहे हैं। वर्माजी आधुनिकाओं को मक्कार, प्रेम की भावना से शून्य और धन की लोभिन समझते हैं।

उन्होंने आधुनिक शिक्षिता नारी के उस क्रान्तिकारी स्वरूप को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया है जिसके द्वारा वह जीवन-क्षेत्र में अपने अधिकारों की माँग करती हुई पुरुष की बराबरी करने का प्रयत्न कर रही है। 'बॉय', 'प्रजेन्ट्स', 'उत्तरदायित्व', 'एक पेग', 'विचित्र चक्कर' आदि कहानियों में वर्तमान शिक्षिता नारी के प्रति वर्माजी का दृष्टिकोण बड़ा अनुदार रहा है।

समष्टि रूप से वर्मा जी ने आधुनिक सभ्यता, समाज, स्त्री और पुरुष, शोषक और शोषित आदि के सम्बन्धों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और नैतिक मूल्यों के आधार पर बड़ा सशक्त चित्रण किया है। उनके मन में शोषक के प्रति भयङ्कर आक्रोश और शोषित के प्रति अमित करुणा और सहानुभूति है। स्थिति का यथार्थ चित्रण करने में वर्मा जी कुशल हैं परन्तु उनकी पराजयवादी मनोवृत्ति पाठक के मन में इन विकृतियों से संघर्ष लेने की भावना न उत्पन्न कर पराजय, निराशा और अवसाद की भावना ही अधिक उत्पन्न करती है। वर्मा जी का यह सारा आक्रोश एक नपुंसक के आक्रोश के समान है और इसका प्रधान कारण यह है कि उनके पास प्रेमचन्द आदि के समान इन विकृतियों को दूर करने वाला कोई स्पष्ट विजन (Vision) नहीं है। 'विजन' का अभाव एक कलात्मक कृति को भी असफल और अप्रभावशाली बना देता है।

वर्मा जी के मन में समाज के गठन, सभ्यता, आडम्बर आदि के प्रति भयंकर रोष है। वे आज की ढोंगी दुनियाँ की झूठी शान पर करारी चोट करते हैं। उनकी 'दो बाँके' नामक कहानी हमारे समाज के इसी झूठे ढोंग पर करारा व्यंग्य करती है। वर्माजी ने प्रायः सर्वत्र ही समाज और मानव के विकृत पक्ष को ही चित्रित किया है। उन्हें समाज या मानव में 'शुभ' के दर्शन कहीं नहीं होते। इसी कारण यथार्थवादी कहानीकार भगवतीचरण वर्मा अपने साहित्य द्वारा मानवता को आशा का सन्देश देने में असमर्थ रहे हैं। उनकी कहानियाँ पढ़ कर मानव और समाज से घृणा हो जाती है जो पराजय और पलायन की भावना उत्पन्न करती है न कि आशा और विश्वास की। परन्तु इस चित्रण में जो सबसे बड़ी खूबी दिखाई देती है वह है वर्मा जी का तीखा, मार्मिक और प्राणान्तक प्रहार करने वाला व्यंग्य जिसे पढ़ कर पाठक क्षणभर

को तिलमिला उठता है। इस व्यंग्य को ही उनकी कहानियों का सबसे बड़ा गुण माना जा सकता है।

कहानी-कला की दृष्टि से वर्माजी एक अत्यन्त उच्चकोटि के कहानीकार माने जा सकते हैं। वे जीवन और जगत से विषय, घटना और पात्र का चयन कर कहानियाँ लिखते हैं। वर्माजी की कहानी-कला का विश्लेषण करते हुए डा० लक्ष्मीनारायण लाल ने लिखा है—

"भगवतीचरण वर्मा की कहानी-कला मुख्यतः प्रेमचन्द संस्थान के समीप है। दोनों में बहुत थोड़ा सा ही कलागत अन्तर है। इनकी कहानियों के व्यापक शिल्प विधान में दो रूप पूर्णतः स्पष्ट हैं, प्रथम इनकी कहानियाँ चरित्र-प्रधान हैं, फलतः ये रेखाचित्र के समीप हैं, जैसे, दो पहलू, विवशता, पराजय और मृत्यु, प्रजेन्ट्स और इन्स्टालमेन्ट; द्वितीय इनकी कहानियाँ बौद्धिक विचारों और समस्याओं को लेकर लिखी गई हैं, फलतः शैली विधान में ये व्यक्तिगत निबन्ध हो गई हैं, जैसे, दो बाँके, कायरता और प्रायश्चित आदि। इन सब कहानियों की शैली, रचना-विधान में भूमिका, तर्क-वितर्क और अन्त में दृष्टान्त की प्रेरणा स्पष्ट है। रूप-विधान में ये कहानियाँ लघु कहानी हैं।"

कहानी-कला के सम्बन्ध में हमें स्वयं वर्माजी के विचारों को भी जान लेना चाहिए। आप लिखते हैं—"क्या लिखा गया है और क्यों लिखा जाता है ? किसी भी कलाकार की कृति को पढ़ने के समय ऐसे प्रश्नों को उठाना कलाकार के साथ ही नहीं, वरन् कला के साथ अन्याय करना है। आप लोगों को देखना चाहिए 'किस तरह लिखा जाता है ?' और यही कलाकार की सफलता है।" इस मन्तव्य से तो यही ध्वनि निकलती है कि वर्मा जी रूप-रचना (Form) को ही सब कुछ मानकर विचार या भाव (Emotion) को कुछ भी नहीं मानते। परन्तु वस्तु-स्थिति ऐसी नहीं हैं। वर्माजी रूप-रचना के गठन के प्रति अधिक सतर्क नहीं रहते। उनका उपजीव्य विचार या भाव ही रहता है। इसी कारण उनकी कहानी-कला अनेक स्थलों पर अस्वाभाविक हो उठी है। वे थोड़ी सी घटनाओं को लेकर विश्लेषण-विवेचन द्वारा कहानी का आरम्भ करते समय ही कहानी के विषय से पाठक को परिचित करा देते हैं। और

कहीं-कहीं यह आरम्भिक विश्लेषण-विवेचन इतना अधिक विस्तृत हो जाता है है कि अस्वाभाविक सा प्रतीत होने लगता है । उनका यह विश्लेषण और विवेचन—चाहे वह किसी पात्र का हो या किसी समस्या या विचार का—प्रारम्भ से अन्त तक चलता रहता है ।

उनके लगभग सभी कथानक एक सी पद्धति के हैं। चाय की दूकान, होटल, रेलवे प्लेटफार्म आदि को इनकी लगभग सभी कहानियों में स्थान मिला है जिससे इनकी कहानियों में वातावरण-भिन्नता अधिक नहीं दिखाई पड़ती और इसका कारण है उनका सर्वत्र और सदैव एक सा रहने वाला दृष्टिकोण । इसने वर्माजी की कहानियों को आवश्यक रूप से संकीर्ण बना दिया है । इस सम्बन्ध में दूसरी बात यह है कि वर्माजी अपनी प्रत्येक कहानी में अपने व्यक्तिगत जीवन अनुभवों का चित्रण करने में ही अधिक प्रयत्नशील रहते हैं, इसी कारण उनकी कहानियाँ प्रथम पुरुष शैली में लिखी गई हैं ।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से उनके पात्र वर्ग-प्रतिनिधि भी होते हैं और अपना विशिष्ट व्यक्तित्व रखने वाले भी । मनोगत कुंठाओं आदि का विश्लेषण करते हुए वर्मा जी परिस्थिति, प्रसंग, छोटी-मोटी घटनाओं आदि की सहायता से अपने पात्रों की चरित्रगत विशिष्टताओं का उद्‌घाटन करते जाते हैं। वर्माजी के संवाद संक्षिप्त, मार्मिक, सरल सजीव, और अभिप्राय गर्भित रहते हैं । वे अनावश्यक संवादों से सर्वत्र बचने का प्रयत्न करते हैं । ये संवाद चरित्रोद्‌घाटन और कथा को आगे बढ़ाने में पूर्ण समर्थ और उपयुक्त होते हैं। वातावरण की दृष्टि से इनकी कहानियों में स्थानीय विशेषताओं का सफल चित्रण हुआ है परन्तु वर्माजी वातावरण-निर्माण को अधिक महत्व देते प्रतीत नहीं होते ।

वर्माजी की भावनाओं में एक ऐसा तीव्र वेग रहता है जो उन्हें असंयत फलतः विशृंखलित बना देता है । विचारों के तीव्र प्रवाह में वे अपने को संयत रखने में असमर्थ हो जाते हैं और इसका परिणाम यह होता है कि उनकी कहानियों में उश्रृङ्खलता और कभी-कभी अश्लील विचार आजाते हैं । अपने इसी असंयत स्वभाव के कारण वे संकलन-त्रय का समुचित निर्वाह भी नहीं कर पाते । वे प्रभाव की एकता के प्रति सतर्क रहते हैं परन्तु विचारों या

भावनाओं के प्रवाह में बह जाने के कारण समय और स्थान की एकता का ध्यान नहीं रख पाते ।

भाषा और शैली की दृष्टि से वर्माजी हिन्दी के गिने-चुने कहानीकारों में स्थान पाने के अधिकारी हैं । उनकी भाषा सर्वत्र पात्र और परिस्थिति के अनुकूल चलती है । भाषा में उर्दू का पुट आ जाने से उसमें एक अद्भूत आकर्षण, प्रवाह, सजीवता और प्रभाव आजाता है । कभी-कभी स्थानीय शब्दों का प्रयोग भी होता रहता है । भाषा की यह सजीवता और स्वाभाविकता उनकी कहानियों में एक ऐसे तीखे और मार्मिक व्यंग्य की सृष्टि करती है जो पाठक को तिलमिला देने के साथ-ही-साथ उसका मनोरंजन भी करता चलता है । हास्य के शिष्ट छींटे उनकी कहानी को नीरस बनने से बचा लेते हैं । यदि वर्माजी की कहानियों में इस हास्य और व्यंग्य का पुट न मिला रहता तो बौद्धिकता से बोझिल उनकी कहानियाँ में नीरस हो उठतीं । ऐसा मँजा हुआ व्यंग्य और हास्य हिन्दी के बिरले ही कहानीकारों में मिलता है । परन्तु इधर बाद में लिखीं गईं उनकी कहनियों से यह विशेषता गायब होती जा रही है । अब उनमें बोझिल गम्भीरता आने लगी है ।

वर्माजी की कहानी-कला पर एक आरोप यह लगाया जाता है कि उनमें कहीं-कहीं अश्लीलता आ जाती है और कहीं-कहीं नैतिकता का अभाव खटकने लगता है । हम ऊपर कह आए हैं कि वर्मा जी भावनाओं या विचारों के तीव्र प्रवाह में इतने असंयत एवं विवश हो उठते हैं कि अपने को रोक नहीं पाते । इसका दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि उनके जीवन गत अभाव इस रूप में अपनी अभिव्यक्ति पाते हैं । वर्मा जी अश्लीलता या अनैतिकता का अस्तित्व तक स्वीकार नहीं करते । उनकी दलील दृष्टव्य है—

"संसार में अश्लीलता नाम की कोई चीज है भी, इस पर मुझे शक है । रही नैतिकता की बात, वहाँ मनुष्य का अपना निजी दृष्टिकोण है । अगर आपको अधिकार है कि आप मुझे गलती पर समझें तो मुझे भी यह अधिकार प्राप्त है कि मैं आपको गलती पर समझूं ।" यह दलील कितनी लचर है इसे पाठक स्वयं अनुभव कर सकते हैं । सामाजिक स्वस्थ मान्यताओं की अवहेलना सदैव घातक होती है ।

पं० विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक'

कहानी-कला में प्रेमचन्द की कहानी-कला का पूर्ण प्रतिनिधित्व करने वाले हिन्दी के सुप्रसिद्ध कहानीकार 'कौशिक' सन् १८९१ ई० में अम्बाला में पं० हरिश्चन्द्र कौशिक के घर उत्पन्न हुए थे और चार वर्ष की अवस्था में ही उनके कानपुर निवासी चाचा इन्द्रसेन ने उन्हें गोद लेकर अपना दत्तक पुत्र बना लिया था। 'कौशिक' ने इन्ट्रेन्स तक स्कूली शिक्षा प्राप्त करने के उपरान्त घर पर रह कर ही संस्कृत तथा हिन्दी का ज्ञान प्राप्त किया। फारसी तथा उर्दू उन्होंने स्कूल में पढ़ी थी परन्तु घर पर भी इन दोनों भाषाओं का अध्ययन करते रहे और साथ ही बंगला भाषा भी सीख ली। इस प्रकार उपर्युक्त विभिन्न नई-पुरानी तथा प्रान्तीय भाषाओं का अध्ययन कर 'कौशिक' साहित्य-रचना की ओर प्रवृत्त हुए। घर के सम्पन्न थे इसलिए जीविका कमाने की अधिक चिन्ता नहीं थी। प्रेमचन्द के समान इन्होंने भी अपने साहित्यिक-जीवन का प्रारम्भ उर्दू से ही किया था। ये 'राग़िब' उपनाम से उर्दू में कविता किया करते थे परन्तु शीघ्र ही इनके उर्दू-प्रेम का स्थान हिन्दी-प्रेम ने ले लिया और इन्होंने सन् १९११ से नियमित रूप से हिन्दी में लिखना प्रारम्भ कर दिया।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी साहित्यिक क्षेत्र में अपने युग की एक अद्भुत प्रेरक शक्ति थे। उनसे प्रेरणा प्राप्त कर हिन्दी के अनेक लेखक उच्च-कोटि के साहित्यकार बन गए थे। 'कौशिक' को कहानियाँ लिखने की प्रेरणा और आदेश उन्हीं से प्राप्त हुआ था। उन्होंने ही सर्व प्रथम रवीन्द्र बाबू की 'निशीथ' शीर्षक बंगला कहानी का कौशिक से हिन्दी में अनुवाद कराया था और पसन्द आने पर 'सरस्वती' में प्रकाशित कर दिया था। इसके उपरान्त

कौशिक ने मौलिक कहानियाँ लिखना प्रारम्भ कर दिया और उनकी सर्वप्रथम मौलिक कहानी 'रक्षा बन्धन' 'सरस्वती' में सन् १९१२ में प्रकाशित हुई। इसकी गणना भी हिन्दी की प्रथम मौलिक कहानियों के अन्तर्गत की जाती है। इस प्रथम कहानी ने ही अपनी कलात्मक श्रेष्ठता द्वारा कौशिक की कहानी-क्षेत्र की भावी सफलताओं एवं प्रसिद्धि का मार्ग प्रशस्त बना दिया था। कहानी-कला की दृष्टि से यह कहानी इतनी उच्चकोटि की सिद्ध हुई कि राय कृष्णदास ने हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ 'इक्कीस कहानियों' का संकलन करते समय इसे उस संकलन में स्थान दिया।

हिन्दी के ऐसे सफल एवं श्रेष्ठ कहानीकार कौशिक का व्यक्तित्व बड़ा विचित्र सा था। उन्हें जीविका कमाने की चिन्ता कभी नहीं रही थी। वे ऐश्वर्य पूर्ण वातावरण में पले, बढ़े और जीवित रहे थे। इस सम्पन्नता ने उनके स्वभाव में एक मस्तीभरी रसिकता उत्पन्न कर दी। एक लेखक ने उनका परिचय देते हुए लिखा था—

"......उनके व्यक्तित्व में अन्य व्यक्तिवादी सुलेखकों के समान न बारूद जैसी तेजी है और न गुप्तजी की भाँति वैष्णव-परायणता ही। वे सीधे-सादे व्यावहारिक आदमी हैं जिनके जीवन का ध्येय है—नेकी कर कुएं में डाल। न किसी के लेने में और न किसी के देने में। बस ! कुछ लिखना है, कुछ जीवन में करना है। यही साध लिए यह साहित्यिक तपस्वी कानपुर के बँगाली मुहल्ले में अपना आसन जमाए रहते थे।"

कौशिक की तोंद काफी बड़ी थी। वह बड़े हास्यप्रिय थे। उनकी इसी हास्य प्रियता का उनकी बढ़ी हुई तोंद से घनिष्ठ सम्बन्ध जोड़ते हुए उक्त लेखक ने आगे लिखा है कि—"कौशिक' जी की तोंद बदन का विश्लेषण है जिसका विकास साहित्य में विजयानन्द चौबे के रूप में हुआ है। सिर के बाल खिचड़ी हो गए हैं, लेकिन वही राग-रंग का जीवन है। उनके जीवन के साथ ही उनका कलाकार भी रस-प्रधान है।" कौशिक ने विजयानन्द चौबे के छद्म नाम से दुबे जी की चिट्ठियाँ' धारावाहिक रूप से लिखीं थीं जो इतने गम्भीर व्यंग्य तथा हास्य से ओतप्रोत रहती थीं कि अपने समय में उन्होंने साहित्यिक-क्षेत्र में धूम मचा रखी थी। समष्टि रूप से कौशिक के व्यक्तित्व एवं स्वभाव में एक शाली-

नता भरी रसिकता, मस्ती, आनन्द और हास्य का ऐसा समावेश था जो उनके विभिन्न साहित्यिक रूपों में बिखरा हुआ मिलता है। इन सबके साथ ही उनके हृदय में दीन दलितों के प्रति एक करुणा मिश्रित दया का भाव, निर्बलों एवं निःस्वत्वों के प्रति एक विचित्र सी सहानुभूति तथा अन्याय एवं अत्याचार के विरुद्ध घृणा, असंतोष और विद्रोह की उद्दाम शक्ति भी मिली रहती थी। उनका यह अनेकमुखी व्यक्तित्व उनके साहित्य के विभिन्न रूपों में प्रकट हुआ है।

एक साहित्यिक के रूप में कौशिक कहानीकार, उपन्यासकार, संकलनकर्त्ता, अनुवादक तथा सम्पादक सभी कुछ थे। उनके कहानी-संग्रहों की संख्या काफी है। कुछ समय पहले तक उनके कुल चार कहानी-संग्रह उपलब्ध थे। १—कल्प मन्दिर, २—चित्रशाला (दो भाग), ३—मणिमाला और ४—कल्लोल। इधर उनकी इधर-उधर बिखरी हुई कहानियों का संकलन कर 'विनोद पुस्तक मन्दिर' आगरा ने उनके नई नवीन कहानी-संग्रह प्रकाशित किए हैं जिनके नाम निम्नलिखित हैं—१—पेरिस की नर्तकी, २—बन्ध्या; ३—खोटा बेटा, ४—जीत में हार, ५—प्रतिशोध, ६—एप्रिल फूल, और ७—ईश्वरीय दंड। इस प्रकार इनके कहानी संग्रहों की कुल संख्या बारह हो जाती है।

कौशिक भी प्रेमचन्द के समान उर्दू से हिन्दी में आए थे। किन्तु प्रेमचन्द उर्दू से हिन्दी में उस समय आए थे जब उनकी कलम उर्दू में मंज चुकी थी, परन्तु कौशिक उर्दू में थोड़ी सी कविताएँ आदि ही लिखकर हिन्दी-क्षेत्र में उतर आए थे, इसलिए उनके साहित्य, शैली एवं भाषा पर प्रेमचन्द के समान उर्दू का प्रभाव नहीं दिखाई पड़ता। कौशिक प्रेमचन्द से पहले से ही हिन्दी में कहानियाँ लिखने लगे थे। इन्होंने सन् १६११ से ही हिन्दी में कहानियाँ लिखना प्रारम्भ कर दिया था जबकि प्रेमचन्द की पहली कहानी सन् १६१६ में हिन्दी में प्रकाशित हुई थी। इस दृष्टि से कौशिक को हिन्दी-कहानियों के जन्मदाताओं तथा उसे विकास के पथ पर आगे बढ़ाने वाले हिन्दी के श्रेष्ठ कहानीकारों में से एक माना जा सकता है। कहानी-क्षेत्र में प्रेमचन्द के आगमन से विषय एवं शिल्प की दृष्टि से जो क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए थे उसे आगे बढ़ाने में कौशिक का भी महत्वपूर्ण योग रहा था। हिन्दी-कहानी के उस प्रारम्भिक युग में तीन

कहानीकारों—प्रेमचन्द, कौशिक और सुदर्शन—ने ऐतिहासिक कार्य किया था इसी कारण इन तीनों को हिन्दी कहानी-साहित्य की 'वृहत्त्रयी' कहा जाता है। प्रेमचन्द-संस्थान का जन्मदाता प्रेमचन्द को माना जाता है परंतु वस्तुतः प्रेमचन्द-संस्थान को जन्म देने एवं उसे आगे विकसित करने में कौशिक और सुदर्शन का भी उतना ही महत्वपूर्ण स्थान रहा है जितना कि स्वयं प्रेमचन्द का। इस दृष्टि से हिन्दी के समस्त कहानीकारों में महत्वपूर्ण योगदान की दृष्टि से कौशिक का महत्व सर्वदा अक्षुण्ण रहेगा।

प्रेमचन्द का युग सुधारवादी युग था ! इसलिए तत्कालीन कथा-साहित्य में समाज को प्रमुखतः तथा समाज के माध्यम से व्यक्ति को भी सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ था। प्रेमचन्द और उनके सहयोगी कहानीकार उस युग में प्रचलित आर्य समाज की सुधारवादी विचारधारा से अत्यधिक प्रभावित थे। कुछ ने उस विचारधारा को यथावत् स्वीकार कर लिया था तथा कुछ ने उसमें अपने मौलिक चिन्तन एवं दृष्टिकोण का समावेश कर अपनाया था। इसी कारण उस काल के प्रायः अधिकाँश लेखकों ने समाज को ही अपनी कहानियों का आधार बनाया था। प्रसाद जैसे कहानीकार ही इसके अपवाद थे। कौशिक ने युग के इस प्रभाव को पूर्णतः स्वीकार कर सुधारवादी सामाजिक कहानियाँ ही लिखीं थीं। इनके विषय परिवार के छोटे से दायरे से लेकर सम्पूर्ण समाज के विस्तृत दायरे तक फैले हुए हैं। और इन विभिन्न क्षेत्रों का यथार्थ चित्रण कर उसके ऊपर अपने आदर्शवाद की स्थापना करना इनका प्रमुख ध्येय रहा है। उन्होंने सामाजिक सड़ी-गली रूढ़ियों जैसे पर्दा-प्रथा, विधवा-विवाह आदि युग की ज्वलन्त समस्याओं का बड़ी सहानुभूतिपूर्वक विश्लेषण किया है। परंतु कौशिक विस्तृत सामाजिक क्षेत्र की अपेक्षा पारिवारिक सीमित क्षेत्र तक ही अधिक सीमित रहे हैं। पारिवारिक जीवन का उनका अध्ययन अत्यन्त गहन, सूक्ष्म और मनोवैज्ञानिक था इसलिए इस क्षेत्र से सम्वन्धित उनकी कहानियाँ ही अधिक लोकप्रिय बन सकीं। कौशिक क्योंकि शहरी जीव थे, ग्रामीण समाज से उनका अधिक गहरा परिचय नहीं था। इसी कारण उनकी कहानियों का विषय क्षेत्र नगर तक ही सीमित होकर रह गया है। उन्होंने जहाँ कहीं ग्रामीण

क्षेत्र को अपनाने का प्रयत्न किया है वहीं उन्हें असफलता का सामना करना पड़ा है।

कौशिक ने यद्यपि अपने जीवन के अन्तिम काल (सन् १९४६) तक कहानियाँ लिखी थीं परन्तु वे प्रसाद और प्रेमचन्द के समान युग की प्रगति का साथ नहीं दे सके थे इसलिए उनकी कहानियाँ कहानी-कला के विकास की दृष्टि से प्रारम्भिक काल की कहानियों की ही विषय-वस्तु एवं शैली को अन्त तक अपनाये चली गईं थीं। इसलिए उनकी समस्त कहानियों में उस प्रारम्भिक कालीन कहानी-साहित्य की सम्पूर्ण विशेषतायें मिल जाती हैं। उस काल की कहानियों में कथावस्तु की प्रधानता रहती थी। यद्यपि प्रसाद ने उस काल में ऐसी छोटी-छोटी कलात्मक कहानियाँ भी लिखी थीं जिनमें कथानक अत्यन्त सूक्ष्म रहता था परन्तु प्रसाद की इस नवीनता का उस काल के अधिकांश कहानीकारों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा था। कौशिक भी अपने युग का अनुसरण करते हुए कथानक-प्रधान कहानियाँ लिखते रहे। इन कहानियों में कथा का सौष्ठव ही सर्वोपरि माना जाता है। कथानक में विभिन्न घटनाओं एवं संयोगों का समावेश करते हुए कथा को अपने लक्ष्य—किसी आदर्श विशेष की स्थापना तक ले आया जाता है और प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से उस आदर्श की स्थापना कर कहानी समाप्त हो जाती है।

कौशिक की लगभग सभी कहानियाँ घटना-प्रधान हैं जिनमें कथानक प्रारंभ होकर, अनेक घटनाओं में घूमता हुआ अन्त में अपने मूल केन्द्र-विन्दु पर आ जाता है। इन कथानकों में संयोगों तथा दैवी-घटनाओं का भी खूब उपयोग किया गया है जो कहीं-कहीं कहानी को अस्वाभाविक बना देते हैं। साधारणतः इनके कथानक मन्द-मन्थर गति से चलते हैं। इस गति में एक स्वाभाविकता, रमणीयता और सरलता रहती है। उसमें न मनोविज्ञान की उलझनें और पेचीदगियाँ रहती हैं और न नवीन शिल्प का कोई मोह ही। सारा कथानक एक पूर्ण निश्चित बँधी-बँधाई लीक पर सहज गति से चलता चला जाता है। उसमें अपना एक विशेष चमत्कार रहता है। कौशिक अपनी सरल विचारधारा, गहन सहानुभूति तथा स्वाभाविक एवं सरल भाषा-शैली द्वारा अपनी कहानियों में

एक ऐसा भोला चमत्कार उत्पन्न कर देते हैं जो सहज ही पाठकों का मन अपने आकर्षण-जाल में उलझाए रहता है । परन्तु इस कथा-प्रवाह के बीच में कहीं-कहीं ऐसे वाक्य जैसे—"पाठक समझ गए होंगे कि घनश्याम कौन है ?" पाठक की कौतूहल-वृत्ति को छिन्न-भिन्न कर डालते हैं । यह हिन्दी के आदि कालीन कहानीकारों की एक विशेष पद्धति थी जिसको छोड़ने में कौशिक असमर्थ रहे थे । इस प्रकार की कुछ न्यूनताओं के रहते हुए भी उन्हें अपनी कथाओं को सजाने सँवारने में बहुत सफलता मिली है ।

कौशिक ने कुछ चरित्र-प्रधान कहानियाँ भी लिखी हैं । परन्तु समष्टि रूप से इन्हें चरित्र-प्रधान कहानियाँ नहीं भी माना जा सकता । इसका कारण यह है कि इनके प्रायः सभी पात्र साधारण हैं, उनमें अपनी कोई चरित्रगत विशेषता नहीं मिलती । उनमें परिस्थितियों का महत्व पात्रों से अधिक रहता है । प्रधान कहानियों में चरित्र-चित्रण अथवा वातावरण-निर्माण पर विशेष बल न देकर पात्रों की उन उलझनों का ही अधिक वर्णन किया जाता है, जो विविध चरित्रों के विविध परिस्थितियों में पड़ने के कारण उत्पन्न होती है । वहाँ पात्र प्रधान न रह कर परिस्थितियां ही प्रधान बन जाती हैं । "रक्षा बन्धन" आदि कहानियों में परिस्थितियों की यही प्रबलता लक्षित होती हैं । संयोग और दैवी-घटनायें पात्रों को गौण बना देती हैं ।

कौशिक की सर्वश्रेष्ठ कहानी 'ताई' मानी जाती है । इसका ऊपरी रूप यद्यपि चरित्र-प्रधान कहानी का सा लगला है क्योंकि इसका धरातल मनोवैज्ञानिक है । परन्तु इसमें 'ताई' के चरित्र का विश्लेषण मनोवैज्ञानिक ढंग से न कर लेखक स्वयं वर्णन और कथन द्वारा कर देता है । संवाद और क्रिया-कलाप द्वारा ही ताई के चरित्र की विशेषता को दिखाया जाता है । परन्तु ताई की स्पर्धा और स्नेह का मनोवैज्ञानिक द्वन्द्व यदि मनोविश्लेषण पद्धति के द्वारा किया जाता तो ताई का चरित्र हिन्दी-साहित्य के अद्वितीय चरित्रों में गिना जाता । पात्रों के चरित्र-चित्रण में कौशिक कहीं-कहीं एक अनोखी परन्तु उस युग में बहु-प्रचलित पद्धति का भी सहारा लेते हैं । और वह पद्धति है अकस्मात किसी घटना द्वारा किसी पात्र के चरित्र में आमूल परिवर्तन उपस्थित कर देना । आज-कल ऐसे चरित्र-परिवर्तन को अवैज्ञानिक माना जाता है ।

एक आलोचक के शब्दों में—"इनका जैसा सुन्दर, सुखद, सार्थक और चुस्त कथोपकथन हिन्दी के किसी भी दूसरे कहानीकार में नहीं पाया जाता।" इस कथन को अतिशयोक्ति नहीं माना जा सकता। इनके कथोपकथन एक साथ ही दो कार्य करते हैं—कथानक का विकास और पात्रों का चरित्र-चित्रण। इनकी अनेक कहानियों का आरम्भ ही, प्रसाद के समान, कथोपकथनों द्वारा होता है। इन संवादों में नाटकीयता का बहुत बड़ा अंश रहता है। कौशिक हिन्दी के एक अत्यन्त सफल व्यंग्यकार और हास्यरस लेखक थे। व्यंग्यकार की भाषा अत्यन्त चुस्त, फड़कीली, मुहावरेदार, सरल और सरस रहती है। कौशिक के संवादों में इसी कारण इतनी चुस्ती पाई जाती है। वे सीधी-सादी शब्दावली द्वारा कहीं-कहीं बड़ा गहरा, तीखा और मार्मिक व्यंग्य कर जाते हैं।

कहानी की भाषा की दृष्टि से कौशिक को प्रथम श्रेणी का सफल कहानीकार माना जाता है। उनकी भाषा में न तो प्रसाद की भाषा की सी क्लिष्टता है और न प्रेमचन्द का सा पात्रानुकूल भाषा का प्रयोग करने का मोह ही है। यद्यपि उनके ग्रामीण पात्र कहीं-कहीं अपनी भाषा बोलते हैं परन्तु वह भी ऐसा रूप लिए रहती है जो सब की समझ में आ जाय। साधारणतः उनकी भाषा सरल, सरस, मुहावरेदार और प्रवाहमयी रहती है। सुबोधता एवं सरलता उसके प्रधान गुण हैं। उन्होंने सर्वत्र भाषा की स्वाभाविकता की रक्षा की है। वह भावानुकूल अपना स्वरूप बदलती चलती है। पात्रानुकूल भी उनकी भाषा में स्तर भेद आ जाता है। समष्टि रूप से उन्होंने भाषा का वही रूप अपनाया है जो प्रेमचन्द का आदर्श था और आज भी प्रगतिशील कलाकार जिसे अपना आदर्श मानते हैं।

संकलन-त्रय की दृष्टि से कौशिक की कहानियों को पूर्णरूपेण सफल नहीं माना जा सकता। उनमें प्रसाद के समान प्रभाव की एकता तो मिलती है परन्तु स्थान एवं समय की एकता का प्रायः अभाव ही रहता है। उनकी कहानियों की समय-अवधि कभी-कभी बहुत लम्बी हो जाती है। वर्तमान कहानी-कला की दृष्टि से इसे दोष माना जा सकता है।

आदर्श की स्थापना करना उस युग की कहानी का प्रधान लक्ष्य रहता था। यह आदर्श कहीं अप्रत्यक्ष रूप से संकेतित रहता था और कहीं उपदेश के रूप

में स्पष्ट हो जाता था। कौशिक की कहानियों में भी आदर्श की स्थापना किसी न किसी प्रकार उपदेश के रूप में ही की जाती है। यह खुली उपदेशात्मकता कौशिक की कहानियों के वर्तमान पाठकों को अकलात्मक और अटपटी सी लगती है। परन्तु वह युग ही आदर्श एवं उपदेश प्रधान था। कहानी के अन्त में उपसंहार जोड़ कर आदर्श और उपदेश को स्पष्ट कर देना उस युग के कहानीकारों की एक प्रवृत्ति सी बन गई थी।

कौशिक की 'ताई' नामक कहानी में उनकी उपर्युक्त सम्पूर्ण विशेषतायें मिल जाती हैं। इस कहानी की मूल संवेदना पारिवारिक धरातल से ली गई है। इसमें सन्तान हीन पति-पत्नी में दूसरे के बच्चे के प्रति स्नेह एवं वात्सल्य की समस्या प्रस्तुत की गई है। निर्माण शैली की दृष्टि से यह अन्य पुरुष में वर्णित है। यह पूर्णरूपेण वर्णित और कथित है, व्यंजित नहीं। इसकी समस्या मनोवैज्ञानिक अधिक है। रामेश्वरी (ताई) अपने पति रामजीदास के भतीजे मनोहर के प्रति रामजीदास के स्नेह से कुढ़ती है यद्यपि वह स्वयं भी अवचेतन रूप में उसे माता के समान ही स्नेह करती है। परन्तु ईर्ष्या के कारण अपनी इस मातृत्व भावना पर सदैव एक पर्दा डाले रहती है। फलतः सम्पूर्ण कहानी में स्पर्द्धा और सहज-स्नेह का अन्तर्द्वन्द्व चलता रहता है। परन्तु रामेश्वरी के इस अन्तर्द्वन्द्व की अभिव्यक्ति स्वयं रामेश्वरी के व्यक्तित्व द्वारा न होकर प्रारम्भ से अन्त तक स्वयं कहानीकार के वर्णनों द्वारा ही होती है। अर्थात् कहानी के विकास और निर्माण के लिए कहानीकार को ही सब कुछ कहना पड़ता है। कहानो में यथार्थ और आदर्श का संघर्ष चलता रहता है और अन्त में आदर्श की प्रतिष्ठा होती है। यह सारा कार्य संयोगों और कार्यों द्वारा ही होता है। चरम-सीमा के रहते हुए भी कहानी का उद्देश्य भूमिका और उपसंहार के रूप में बार-बार उभर कर ऊपर आ जाता है। उद्देश्य की यह प्रेरणा ही इस प्रकार की कहानियों में प्रमुख रही है। अस्तु,

समस्त हिन्दी-कथा-साहित्य में अपनी अद्भुत वर्णन-शक्ति, मानवीय संवेदनाओं के सफल चित्रण, जनवादी दृष्टिकोण, आदर्श के प्रति उत्कट मोह, सरल सहज-ग्राह्य भाषा और शैली के कारण अकेले कौशिक ही एक ऐसे कलाकार हैं जो प्रेमचन्द के सबसे अधिक निकट ठहरते हैं। इनकी कहानियाँ प्रायः संक्षिप्त

होती हैं। वे एक ही कहानी में देश, समाज और जीवन की विविध समस्याओं को एक ही साथ सुलझाने का प्रयत्न न कर जीवन के किसी विशिष्ट अंग को अपने कथ्य का विषय बनाते हैं और उनकी सशक्त लेखनी के चमत्कार द्वारा वह विशिष्ट अङ्ग अपने पूर्ण, स्पष्ट तथा मनमोहक रूप में उपस्थित होता है। उलझन से उन्हें विरक्ति हैं; निराशा या अवसाद को वे अपने पाठकों के पास फटकने भी नहीं देते। उनके पात्र अपूर्व उमंग से भरे हुए जीवन-पर्यन्त संघर्षों में लगे रहते हैं। उनका मानवतावादी दृष्टिकोण, जिसमें आदर्श का भी गहरा पुट रहता है, पाठक को निरन्तर संघर्षरत बने रहने की प्रेरणा प्रदान करता रहता है। कौशिक के साहित्य का यही महत्व है जो उन्हें अमर बनाने के लिए पर्याप्त है।

कहानी-कला के आधुनिक मर्मज्ञ प्रबुद्ध पाठक को कौशिक की कहानियाँ भले ही अकलात्मक, उपदेश-प्रधान, व्यंजना हीन एवं नीरस लगें परन्तु उनका हिन्दी-कहानी-साहित्य के विकास में एक ऐतिहासिक योगदान रहा है। यदि उस युग में कौशिक जैसे कहानीकार न होते तो हिन्दी-कहानी अपने वर्तमान रूप को प्राप्त करने में कभी भी समर्थ न हो सकती। उन लोगों ने कहानी को जन्म दिया था, उसे सजाया-सँवारा था और विकास के उस स्तर तक पहुँचा दिया था जिस पर आधुनिक कहानी की इमारत खड़ी हुई है। उन्होंने कहानी-साहित्य की नींव के पत्थरों का काम किया था।

हम गत पृष्ठों में कौशिक को प्रेमचन्द-संस्थान के कहानीकारों में प्रमुख और प्रेमचन्द के सबसे अधिक निकट सिद्ध कर आए हैं। यह सब कुछ होते हुए भी कौशिक में अपनी कुछ ऐसी विशेषतायें पाई जाती हैं जो उन्हें प्रेमचन्द से भिन्न सिद्ध कर देती हैं। प्रो० वासुदेव ने प्रेमचन्द और कौशिक का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए इन दोनों महान कथाकारों की इसी भिन्नता को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है।

इन दोनों में पहला अन्तर यह है कि प्रेमचन्द के कहानी-साहित्य की अपेक्षा कौशिक का क्षेत्र अपेक्षाकृत अधिक सीमित है। सुधार की भावना दोनों में ही प्रमुख है परन्तु विषय-वैविध्य की दृष्टि से प्रेमचन्द नागरिक एवं ग्रामीण दोनों ही क्षेत्रों में फैले जीवन और समाज की बहुमुखी समस्याओं को

लेकर चले थे। कौशिक ने अपनी दृष्टि को नागरिक जीवन और विशेष रूप से पारिवारिक जीवन तक ही सीमित रखा था। उन्होंने एक जागरूक कलाकार की दृष्टि से अपनी कहानियों में उसका अंकन किया था। इनके इस चित्रण में दृष्टिकोण की वह व्यापकता नहीं मिलती जो प्रेमचन्द में पाई जाती है। परन्तु गहराई प्रेमचन्द के ही समान है।

प्रेमचन्द में भावुकता के साथ-साथ व्यावहारिकता अधिक थी। परन्तु कौशिक में भावुकता की तीव्रता प्रेमचन्द की अपेक्षा अधिक मिलती है। कौशिक भावुकता के प्रवाह में व्यावहारिकता को भुला देते हैं। भावुकता का यह प्राधान्य पाठकों को अधिक प्रभावित करता है। रोमान्स की अधिकता इस असीम भावुकता को जन्म देती है। परन्तु कहीं-कहीं भावुकता का यह उद्दाम वेग बड़ा अस्वाभाविक और अटपटा सा लगने लगता है। इसका कारण कदाचित् यह रहा है कि प्रेमचन्द चिन्तक थे। उनका विवेचन और चिन्तन उन्हें पूर्णतः भावुक न बनने देकर उन्हें सदैव व्यावहारिकता के प्रति जागरूक बनाये रखता था। प्रेमचन्द का जीवन संघर्षों में पला था, कौशिक का सुख-शान्ति में। इसी कारण प्रेमचन्द में जीवन की यथार्थता और कटुता अधिक थी जब कि कौशिक में आदर्श एवं भावुकता का प्राधान्य रहा था।

प्रेमचन्द यथार्थवादी थे। वे एक साथ कई समस्याओं को लेकर चलते थे इसलिए उनकी कहानियों में कहीं-कहीं कथा की उलझनें आ जातीं थीं। उनमें कहीं-कहीं ऐसे नए पात्र और घटनायें आ जाती हैं जिनका मूल कथा से कोई घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं रहता। इसके विपरीत कौशिक के कथानकों में अपनी एक ऐसी स्पष्टता और सरलता रहती है जो उन्हें स्वाभाविक रूप और गति के साथ विकास तथा चरम सीमा की ओर धीरे-धीरे अग्रसर करती रहती है। उनके पात्र तथा घटनायें मूल कथा से घनिष्ठ रूप से जुड़ी रहती हैं। पात्रों की थोड़ी संख्या एवं साधारण घटनाओं के सहयोग से कौशिक अपनी कहानी में एक अद्भुत आकर्षण एवं रमणीयता उत्पन्न कर देते हैं। इससे कथा की प्रभविष्णुता में वृद्धि होती है।

प्रेमचन्द कथानक की अपेक्षा चरित्र पर अधिक जोर देते हैं परन्तु कौशिक की कहानियाँ कथानक-प्रधान ही रहती हैं। कथानक-प्रधान कहानियाँ लिखने

बालों में इन्हें सर्वश्रेष्ठ माना गया है। संक्षेप में कौशिक की कहानियाँ हिन्दी कहानी-कला की प्रारम्भिक स्थिति की सूचक हैं तथा प्रेमचन्द की विकास की द्वितीय स्थिति की। प्रेमचन्द की कहानियाँ मूलतः चरित्र-प्रधान हैं जिनमें मनोवैज्ञानिक सत्यों का चित्रण हुआ है। कौशिक केवल कथानक को महत्व देकर चले हैं।

राय कृष्णदास

आचार्य शुक्ल ने राय कृष्णदास की कहानियों को 'घटना और संवाद दोनों में गूढ़ व्यंजना और रमणीय कल्पना के सुन्दर समन्वय के साथ चलने वाली' माना है। कहानी लिखने की यह पद्धति प्रसाद और प्रसाद-संस्थान के कहानी-लेखकों की विशेषता मानी जाती है। प्रसाद-संस्थान के कहानीकारों में राय कृष्णदास का नाम सम्मान के साथ लिया जाता है। परन्तु हिन्दी में राय कृष्णदास की सर्वाधिक ख्याति गद्यकाव्य के प्रवर्त्तक के रूप में ही अधिक है, यद्यपि उनका कहानी-साहित्य भी अपनी कलात्मक उत्कृष्टता, भावात्मकता एवं सुन्दर, सुललित गद्य शैली के कारण महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

राय कृष्णदास का जन्म काशी के एक सम्पन्न तथा प्रतिष्ठित अग्रवाल परिवार में हुआ था जिसमें सरस्वती एवं लक्ष्मी दोनों को ही समान सम्मान प्रदान किया जाता था। इनके पिता राय प्रह्लाददास संस्कृत के अच्छे विद्वान और कवि थे। 'राय' की पदवी इन्हें मुगल शासकों से प्राप्त हुई थी और तब से अब तक ये लोग अपने नाम के साथ इस पदवी का प्रयोग करते आ रहे हैं। राय कृष्णदास भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के निकट सम्बन्धियों में से थे। इनका घर साहित्यिकों का अखाड़ा बना रहता था। इसलिए राय कृष्णदास में बाल्यकाल से ही साहित्यिक अंकुर उत्पन्न हो गया था जिसे उन्होंने अपने अध्ययन, प्रतिभा एवं लगन द्वारा कालान्तर में अनेक सुन्दर साहित्यिक-सुमनों से सुशोभित विशाल वृक्ष का रूप दे दिया था।

आप में साहित्य के प्रति रुचि तो बचपन से ही थी, उस पर आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी एवं मैथिली शरण गुप्त जैसे साहित्यकारों से प्रेरणा

एवं प्रोत्साहन पाकर वह और भी बलवती हो उठी और आपने 'सरस्वती' में लिखना प्रारम्भ कर दिया। आगे चलकर आप पर प्रसाद के व्यक्तित्व एवं साहित्य का गहरा प्रभाव पड़ा और इन्होंने गद्यकाव्य तथा कहानियाँ लिखना प्रारम्भ कर दिया। इन्होंने अपना साहित्यिक-जीवन कविता से प्रारम्भ किया था परन्तु उस क्षेत्र में अधिक सफलता न मिलने पर ये एकान्त रूप से गद्य-काव्य और कहानियों की रचना में प्रवृत्त हुए। हिन्दी में गद्यकाव्य को जन्म देने का श्रेय इन्हीं को दिया जाता है। इनकी 'साधना' गद्यकाव्य की अत्यन्त श्रेष्ठ तथा प्रथम पुस्तक मानी जाती है।

इन्होंने कहानी लिखना सन् १९१७ से प्रारम्भ किया था। राय साहब कहानीकार तो हैं ही, साथ ही गद्यकाव्य-लेखक, कवि, संकलन-कर्त्ता तथा एक उच्चकोटि के कला-मर्मज्ञ भी माने जाते हैं। चित्रकला से उन्हें विशेष मोह रहा है। और कला के प्रति उनका यह मोह उनके द्वारा निर्मित 'भारत-कला-भवन' नामक प्रसिद्ध संस्था के रूप में साकार रूप प्राप्त कर गौरवान्वित हुआ है। इस कला-भवन में विभिन्न शैलियों के लगभग एक हजार चित्र, हस्त-लिखित प्राचीन ऐतिहासिक ग्रन्थ, विभिन्न प्रकार के पुराने सिक्के, मूर्त्तियाँ तथा अन्य अनेक दर्शनीय कला-वस्तुओं का संग्रह किया गया है। उनके इस विशाल संग्रह से उनकी अपार कला-प्रियता, भारतीय ललित-कलाओं की रक्षा एवं उन्नयन की आकांक्षा तथा कला के प्रति उनके दृष्टिकोण का परिचय मिलता है। कदाचित् हिन्दी के अन्य किसी भी विद्वान में ललित-कलाओं के प्रति इतना उत्कट मोह, उनकी इतनी परख तथा ज्ञान नहीं है जितना कि राय कृष्णदास में पाया जाता है। कला-वस्तुओं के इस विशाल संग्रह से कला के प्रति राय कृष्णदास के दृष्टिकोण का भी हलका सा आभास मिल जाता है। जब कला केवल दर्शनीय मान ली जाती है तो उसकी उपयोगिता का कोई महत्व नहीं रह जाता। इसी कारण राय कृष्णदास 'कला कला के लिए' सिद्धांत को अपना कर इन कला-वस्तुओं का संग्रह करते रहे हैं और इस सिद्धान्त के प्रति उनका उत्कट मोह उनके सम्पूर्ण साहित्य में—कहानियों एवं गद्यकाव्य में—दिखाई पड़ता है। इसी मोह के कारण उनके साहित्य में आध्यात्मिकता एवं रहस्य का समावेश सब से अधिक हुआ है। इस सिद्धान्त के मानने वाले कला

का वास्तविक-जीवन से कोई सम्बन्ध न स्वीकार कर उसे एक अतीन्द्रीय लोक की वस्तु मानते हैं। भावुकता इस दृष्टिकोण की पहली विशेषता होती है। ऐसा कलाकार यथार्थ जीवन से भिन्न एक लोकोत्तर कल्पित लोक की सृष्टि कर उसी में लोकोत्तर आनन्द को प्राप्त करने का प्रयत्न करता रहता है। उसका इस लोक के यथार्थ-जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता। वह तथाकथित चिरन्तन सत्यों को ही मूलाधार मान कर उन्हें केवल कला के ही माध्यम से—संवेदना के माध्यम से नहीं—चरितार्थ करने का प्रयत्न करता रहता है। राय कृष्णदास भी हिन्दी के ऐसे ही कलाकार हैं। इसी कारण उनकी कहानियाँ सामाजिक व्यक्ति का चित्रण न कर ऐसे व्यक्ति का चित्रण करती हैं जिसका समाज की विभीषिका, उत्पीड़न, शोषण, अन्याय, सुख-दुख आदि से किसी भी प्रकार का यथार्थ सम्बन्ध नहीं रहता। इस दृष्टि से उनकी कहानियाँ व्यक्तिवादी कहानियाँ मानी जा सकती हैं।

राय कृष्णदास की कहानियाँ तीन संग्रहों में संकलित हैं—१—अनाख्या, २—सुधांशु तथा ३—आँखों की थाह। इसके अतिरिक्त इन्होंने अपने दृष्टिकोण से हिन्दी-कहानियों के दो संकलन भी किए हैं—'इक्कीस कहानियाँ' और 'नयी कहानियाँ'। इन संग्रहों में भी इनकी दृष्टि कहानी की मुख्य संवेदनाओं की ओर न रह कर केवल कला की उत्कृष्टता की ओर ही अधिक रही है।

हम ऊपर कह आए हैं कि राय कृष्णदास का कला के प्रति दृष्टिकोण घोर व्यक्तिवादी रहा है। वे कला की सामाजिक उपयोगिता को स्वीकार नहीं करते। और इस सिद्धान्त में विश्वास रखने वाले साहित्यकार या तो हमारे वर्तमान प्रयोगवादियों के समान ऐसे अटपटे, अस्पष्ट और अनर्गल साहित्य की सृष्टि करते हैं जिसका सामाजिक व्यक्ति के जीवन से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं रह जाता या वर्तमान की पूर्ण उपेक्षा कर इतिहास के मनोरम अतीत का चित्रण करने में ही अपनी कला की चरम सार्थकता मानते हैं। राय कृष्णदास का कहानी-साहित्य भी ऐसा ही है जो या तो प्रागैतिहासिक युग में विचरण करता रहता है या यदि समाज को स्पर्श करता भी है तो शुद्ध व्यक्ति के रूप में न कि एक सामाजिक प्राणी होने के नाते। राय कृष्णदास की कहानियाँ तीन प्रकार की मिलती हैं—१—ऐसी कहानियाँ जिनमें साधारण कोटि की भावात्मकता

है, २—प्रागैतिहासिक और ऐतिहासिक, तथा ३—सामाजिक । इनकी भावात्मक कहानियाँ यद्यपि कला की दृष्टि से निम्नस्तर की मानी जाती हैं परन्तु इस वर्ग की जिन कहानियों में 'रहस्यात्मक तथा यथार्थवादात्मक बुद्धि चेतना उद्‌बुद्ध हुई है' वे अपने विशेष कलात्मक आकर्षण की दृष्टि से सुन्दर मानी गई हैं। परन्तु इनकी वही कहानियाँ सबसे अच्छी मानी जाती हैं जिनमें प्रागैतिहासिक युग को साकार करने का प्रयत्न मिलता है । 'अन्त:पुर का प्रारम्भ' और 'रमणी का रहस्य' ऐसी ही कहानियाँ हैं । इन कहानियों में कल्पना और भावुकता ही मुख्य प्रेरणा देने वाली रही है । 'गहुला' नामक ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर निर्मित काल्पनिक कहानी में चरित्र अवतारणा, भावुकता और कल्पना का उन्नततम सौन्दर्य मिलता हैं । सामाजिक कहानियाँ कुछ-कुछ प्रेमचन्द की शैली पर लिखीं गई हैं यद्यपि उनमें न तो दृष्टि की वह व्यापकता ही मिलती है और न उनकी मूल संवेदनायें ही इतनी तीव्र और आकर्षक हैं जो प्रेमचन्द-संस्थान की विशेषता मानी जाती है । प्रागैतिहासिक तथा ऐतिहासिक कहानियों पर प्रसाद का गहरा प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है । कुल मिला कर राय कृष्णदास को प्रागैतिहासिक तथा ऐतिहासिक कहानियाँ लिखने में ही सबसे अधिक सफलला प्राप्त हुई है ।

प्रसाद की कहानियों के ही समान राय कृष्णदास की कहानियाँ वातावरण प्रधान हैं । इस प्रकार की कहानियों का सबसे बड़ा आकर्षण और चमत्कार कला के प्रदर्शन में ही पाया जाता है । इनमें हृदय की कवित्वपूर्ण भावनाओं को कवित्वपूर्ण वातावरण का निर्माण कर अंकित किया जाता है । साथ ही इनमें नाटकीय तथा आदर्शवादी परिस्थितियों का बड़ा कलात्मक निर्माण होता है । इस कला में सर्वोपरि स्वच्छन्दतावादी अभिव्यंजना प्रणाली द्वारा सामाजिक यथार्थ का चित्रण नहीं हो सकता । राय कृष्णदास हिन्दी के वातावरण-प्रधान—कवित्वपूर्ण वातावरण-प्रधान—कहानी-लेखकों में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान के अधिकारी माने जाते हैं ।

प्रो० वासुदेव ने राय कृष्णदास की कहानी-कला का विश्लेषण करते हुए कहा है कि—

"राय कृष्णदास ने प्रथम बार कहानी-कला को कला का वास्तविक रूप

प्रदान किया। उनकी कहानियों में कथानक छोटा, कविता के विषय की तरह एक मनोदशा, हृदय का एक चित्र, किसी घटना का मार्मिक तथा सूक्ष्म-वर्णन, प्रेम की एक झलक अथवा निष्ठुरता आदि का सफल चित्रण हुआ है। ये ही उनकी कहानियों के विषय हैं। उनकी सामाजिक तथा ऐतिहासिक कहानियों में इन्हीं सब विषयों का समावेश हुआ है। इसके लिए उन्हें विशेष श्रम नहीं करना पड़ा, इधर-उधर से सामग्रियों का संचय करना नहीं पड़ा। उनके मन में भावनाएँ उठीं और उन्होंने कहानियाँ लिख दीं। जीवन में आए दिन जो प्रश्न उठते रहते हैं, उन्हीं को रायसाहब चिरन्तन रूप देने का प्रयत्न करते हैं। ये जीवन के राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक प्रश्नों से दूर रहते हैं।"

प्रो० वासुदेव के उपर्युक्त विश्लेषण द्वारा राय कृष्णदास की कहानियों की विषय-वस्तु स्पष्ट हो जाती है। विषय का चयन करने में राय साहब ने अपने चतुर्दिक व्यस्त समाज तथा वातावरण से प्रेरणा ग्रहण न कर सर्वथा अपने मन में समय-असमय उठीं भावनाओं का ही सम्बल ग्रहण किया है। इसी कारण उनकी कहानियों में उनकी विभिन्न भाव-दशाओं के चित्र तो मिल जाते हैं परंतु तत्कालीन समाज उनकी सहानुभूति पाने से वंचित रह जाता है। कला की उत्कृष्टता की दृष्टि से ऐसी कहानियों का कलात्मक महत्व तो बहुत रहता है परन्तु उनकी सामाजिक उपयोगिता रंचमात्र भी नहीं रह जाती। यदि हम कहानी को एकमात्र मनोरंजन का ही साधन स्वीकार कर लें तो भी इस दृष्टि से राय कृष्णदास की कहानियों को मनोरंजक एवं सफल नहीं माना जा सकता। कथा-साहित्य की सफलता की सबसे बड़ी कसौटी लोकप्रियता मानी जाती है परन्तु इस वर्ग की कहानियाँ सर्व-साधारण में लोकप्रिय न होकर केवल उन्हीं पाठकों द्वारा पढ़ी और सराही जातीं हैं जो प्रबुद्ध, संस्कृत और कला-प्रेमी होते हैं। साधारण पाठक को इस प्रकार की कहानियों में न तो अपने संघर्ष-मय जीवन के प्रश्नों का ही समाधान मिलता है और न उनका मनोरंजन ही हो पाता है।

कहानी-कला की दृष्टि से इन भावात्मक कहानियों का अपना एक निराला सौन्दर्य और महत्व रहता है। हम प्रसाद की कहानियाँ का विवेचन करते हुए बता आए हैं कि इस प्रकार की कहानियों कहानी-कला की सर्व मान्य निश्चित

कसौटी पर नहीं कसी जा सकतीं। क्योंकि इनको लिखते समय लेखक किसी भी प्रकार के बन्धनों को स्वीकार नहीं करता। उसके मन में एक उमंग उठी, कोई भावना उदय हुई या किसी नवीन कल्पना ने प्रवेश किया और उसने भावुकता के अजस्र-प्रवाह में बहते हुए अपनी सुललित, कोमल, सरस शब्दावली द्वारा एक कहानी की सृष्टि कर दी। ऐसा करते समय उसके सम्मुख न तो उसके पाठक रहते हैं न समाज और न किसी का हित-चिन्तन। वह स्वान्तः सुखाय ही ऐसी कहानियों की रचना करता और उसमें आकंठ तन्मय हो स्वयं ही उनका रसास्वादन करता है। उसकी यह तन्मयता से ओत-प्रोत भावुकता अपनी असीम उड़ान में किसी भी प्रकार का बन्धन स्वीकार नहीं करती। "इसी कारण इन कहानियों में तन्मयता और भावुकता की उड़ान दर्शनीय होती है। इनमें जीवन के राग-विराग की, सुख-दुख के संघर्ष का तुमुल अन्तर्द्वन्द्व देखते ही बनता है।" राय कृष्णदास की अधिकांश कहानियाँ इसी कोटि और पद्धति की हैं।

उनकी रमणीय कल्पना की असीम उड़ान उनकी 'रमणी का रहस्य' नामक कहानी में देखी जा सकती है। इसमें नारी का स्वभाव और उसके जीवन के लक्ष्य को चित्रित करने का प्रयास किया गया है। लेखक ने उत्तरी ध्रुव प्रदेश में एक ऐसे विचित्र देश की कल्पना की है जहाँ रमणी का जन्म और लालन-पालन होता है। "जहाँ सूर्य कभी अस्त नहीं होता और नारी का चन्द्रावन नित्य उदित रहता है।" उनकी 'अन्तःपुर का प्रारम्भ' कहानी में कल्पना द्वारा प्रागैतिहासिक युग के पूर्ण जंगली जीवन बिताने वाले आदिम नर और नारी का चित्रण किया गया है। नर के हृदय में पहली बार नारी की रक्षा करने का मोह उदय होता है और वहीं से अन्तःपुर का प्रारम्भ हो जाता है। नर के मन में नारी की रक्षा करने का मोह इसलिए उत्पन्न होता है क्योंकि वह नारी को सुकुमार समझता है। नारी अपने नर की बात को स्वीकार कर गुफा के दरवाजे पर खड़ी नर का पराक्रम देखती रहती है और आनन्द की कूकें लगाती रहती है। कहानी-निर्माण का उद्देश्य स्पष्ट और पूर्ण हो जाता है। राय कृष्णदास की ऐसी कहानियों में मनोवैज्ञानिक द्वन्द्व का आकर्षण सफलता

से व्यक्त होता है। इनके विकास और अन्त में नाटकीय तत्व विशेष रूप से आए हैं।

राय कृष्णदास की अधिकांश कहानियाँ वातावरण-प्रधान हैं। वातावरण-प्रधान कहानियों में चरित्र-चित्रण का विशेष महत्व नहीं रहता। इसी कारण आलोचक गण चरित्र-प्रधान कहानियों का स्थान वातावरण-प्रधान कहानियों की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ मानते हैं। परन्तु वातावरण-प्रधान कहानियों का लक्ष्य चरित्र-चित्रण करना न होकर एक कलात्मक सौन्दर्य की सृष्टि करना मात्र रहता है। इनके पात्रों का अपना कोई विशिष्ट व्यक्तित्व नहीं होता। वे एक 'टाइप' बन जाते हैं जो अपने वर्ग या प्रकार के प्रतीक होते हैं। इस प्रतीकात्मकता के ही कारण इन पात्रों का चरित्र स्पष्ट नहीं हो पाता। राय कृष्णदास नारी को मूलतः नारी और पुरुष को मूलतः पुरुष मान कर ही चले हैं। परन्तु नारी के प्रति उनका विशेष मोह दिखाई पड़ता है। उनकी दृष्टि में नारी जगज्जननी है। वही पुरुष की जन्मजात निर्ममता एवं कठोरता को कोमल बनाती है। 'रमणी का रहस्य', 'अन्तःपुर का प्रारम्भ' आदि की नारियाँ इसी प्रकार की हैं। उनका अपना कोई स्वतंत्र व्यक्तित्व न रह कर एक वर्गगत व्यक्तित्व रहता है।

ऐसी भावात्मक वातावरण-प्रधान कहानियों की रचना के लिए उनके उपयुक्त ही भाषा-शैली की आवश्यकता होती है। इनका निर्माण प्रेमचन्द-शैली में सफलता पूर्वक नहीं किया जा सकता। राय कृष्णदास ऐसी भाषा-शैली के धनी लेखक हैं। मूलतः गद्य-काव्य लेखक होने के कारण इनकी कहानियों में भी कहीं-कहीं गद्यकाव्य की सी मनोरम भाषा शैली के दर्शन होते हैं। शब्दावली प्रायः तत्सम्-प्रधान रहते हुए भी उसमें उतनी क्लिष्टता तथा अस्पष्टता नहीं आ पाती जैसी कि हृदयेश की कहानियों तथा माखनलाल चतुर्वेदी के कुछ निबन्धों में पाई जाती है। यद्यपि राय कृष्णदास की भाषा में प्रसाद की भाषा की सी उदात्तता, गाम्भीर्य और गठन नहीं मिलता फिर भी उनकी शैली प्रसाद की शैली से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। प्रसाद कहीं भी अपनी भाषा का स्तर गिरने देते परन्तु राय कृष्णदास की भाषा में कहीं-कहीं ऐसा पंडिताऊपन सा आ जाता है जो उसके सौन्दर्य एवं प्रभाव को नष्ट कर देता है। कहीं-कहीं तो

उन्होंने भाषा की शुद्धता के मोह में पड़ कर मुहावरों तक को शुद्ध तत्सम् प्रधान भाषा में बदल दिया है जैसे 'दिल का छोटा है' के स्थान पर 'हृदय के लघुतर हैं।' कहीं-कही तद्भव तथा प्रान्तीय शब्दों का भी प्रयोग किया गया है परन्तु ऐसे प्रयोग भाषा के उस अपेक्षित उदात्त स्वरूप का साथ नहीं दे पाते जो भावात्मक कहानियों की विशेषता होती है।

यह सब कुछ होते हुए भी उनकी भाषा में एक ऐसी सरलता और स्पष्टता बनी रहती है जो अनायास ही पाठक का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लेती है। कथोपकथनों में उनकी इसी भाषा-शैली के दर्शन होते हैं। 'अन्तः-पुर का आरम्भ' से एक उदाहरण देना यथेष्ठ होगा—

"क्यों ? मुझे ले चलने में हिचकते हो ?"

"नहीं, तुम्हारी रक्षा का ख्याल है।

"क्यों, आज तक किसने मेरी रक्षा की है ?"

"हाँ, मैं यह नहीं कहता कि तुम अपनी रक्षा नहीं कर सकतीं।"

"पर······?"

"मेरा जी डरता है।"

"क्यों ?"

"तुम सुकुमारी हो।"

यहाँ कितने संक्षेप में, कितनी सरलता और भोलेपन के साथ कहानी की मूल आत्मा को स्पष्ट कर दिया गया है। इनकी भाषा की यह अपनी विशेषता है।

विनोदशंकर व्यास

विनोदशंकर व्यास 'प्रसाद-संस्थान' के कहानीकार हैं । यद्यपि इनकी लिखी कहानियों की संख्या अधिक नहीं है फिर भी इन्होंने अपनी भावपूर्ण छोटी-छोटी कहानियों द्वारा कहानीकार के रूप में पर्याप्त ख्याति अर्जित की है । ये प्रसाद के अनुयायी कहानीकार हैं । इनका प्रसाद से घनिष्ठ और पारिवारिक-सा सम्बन्ध रहा था फलतः इन पर प्रसाद के व्यक्तित्व का गम्भीर प्रभाव पड़ा था । फिर भी इनकी कहानियों में इनके अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व की स्पष्ट छाया मिलती है । डा० लक्ष्मीनारायण लाल के अनुसार—"इनकी छोटी-छोटी भावपूर्ण कहानियों में गद्यगीत, रेखाचित्र और कहानी, तीनों के तत्व मिलते हैं । प्रायः अधिकांश कहानियाँ तरुण और मानवीय संवेदना को लक्ष्य बनाकर लिखी गई हैं तथा कहानियों के विकास में अनुभूति की प्रेरणा मुख्य है । इनकी शिल्पविधि की प्रतिनिधि कहानियाँ 'कल्पनाओं का राजा', 'विधाता' और 'अपराध', आदि में कथानक-निर्माण घटना-संयोग से न होकर स्वाभाविक भाव-विकास और चरित्र-विश्लेषण के आधार पर हुआ है ।"

इन्होंने अपनी कहानियों के विषय दैनिक जीवन के मार्मिक स्थलों से चुने हैं । इस चयन में उनका उद्देश्य विभिन्न चरित्रों का चित्रण करना ही रहा है । इसलिए इनकी कहानियों में कथानक की प्रधानता न होकर चरित्र की ही प्रधानता रहती है । मूलतः इनकी कहानियाँ चरित्र-प्रधान कहानियों के उस वर्ग में आती हैं जो मनोवैज्ञानिक धरातल पर चरित्रों की व्याख्या करती हैं । अतः इनकी कहानियों को मनोवैज्ञानिक चरित्र-प्रधान कहानियाँ माना जा सकता है । ऐसी कहानियों में किसी "असाधारण परिस्थिति-विशेष में किसी चरित्र

का सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण" किया जाता है। इनमें कथा-भाग बहुत कम होता है—"क्योंकि इनमें उन घटनाओं और प्रसंगों का केवल संकेत-मात्र रहता है जिनके द्वारा प्रधान चरित्र के आदर्श और प्रतिनिधि गुण-अवगुण प्रकाश में लाए जाते हैं, अथवा जिनके द्वारा चरित्र में अचानक परिवर्तन हो जाता है। कहानी-लेखक का मुख्य उद्देश्य उन आदर्श गुणों अथवा अवगुणों का मनोवैज्ञानिक चित्र उपस्थित करना होता है अथवा परिवर्तित चरित्र का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करना होता है।" —(डा० श्रीकृष्ण लाल)

विनोदशंकर व्यास की कहानियों का प्रेरणा-स्रोत मूलतः उनकी निजी अनुभूतियाँ ही रही हैं। इन अनुभूतियों के कलात्मक यथार्थ-चित्रण द्वारा उन्होंने मानव-मन में किसी स्थिति, घटना या पात्र आदि के प्रति अनुभूति जगाने का प्रयत्न किया है। और इसमें उन्हें पर्याप्त सफलता भी मिली है। इनके चरित्र सामान्य न होकर विशिष्ट हैं। अनुभूति-प्रधान कहानियों के चरित्रों में सदैव एक विशिष्टता रहती है। इन विशिष्ट चरित्रों में चारित्रिक द्वन्द्व की तीव्रता पाई जाती है। व्यास की 'कल्पनाओं का राजा' नामक कहानी की रचना नायक के मानसिक द्वन्द्व के आधार पर हुई है। नायक एक वेश्या के कोठे पर जाता है। उसे शराब पिलाता है और स्वयं भी पीता है और अन्त में अपने मानसिक आवेग की कथा उस वेश्या को सुनाकर वहाँ से चला आता है। कहानी का अन्त वेश्या की मानसिक प्रतिक्रिया पर होता है। इन विशिष्ट प्रकार के चरित्रों में कहानीकार ने मानवीय संवेदना और अनुभूति की प्राण-प्रतिष्ठा पूर्ण कलात्मकता के साथ की है। व्यास ने अपनी कहानियाँ अनेक शैलियों में लिखी हैं; जैसे—संलाप-शैली, ऐतिहासिक-शैली, पत्रात्मक-शैली, कथोपकथनात्मक-शैली और वर्णनात्मक शैली आदि। 'विधाता', 'भूली बात', 'करुणा', 'हृदय की कसक', 'रूखा स्नेह', 'कल्पनाओं का राजा', 'अपराध' आदि इनकी प्रतिनिधि कहानियाँ मानी जाती हैं। भाषा में भावात्मकता का प्राधान्य है। साधारणतः भाषा सरल, सरस और प्रवाहपूर्ण रहती है। प्रसाद का-सा कवित्वपूर्ण गद्य इनकी भाषा के सौन्दर्य एवं प्रभाव में पर्याप्त आकर्षण उत्पन्न कर देता है। संक्षेप में, विनोदशंकर व्यास को 'प्रसाद-संस्थान' के प्रमुख कहानीकारों में माना जा सकता है।

'अपराध' विनोदशंकर व्यास की प्रतिनिधि कहानियों में गिनी जाती है। इसका संक्षिप्त कथानक इस प्रकार है—

प्रभात नामक एक सज्जन अपने मित्र केशव को, जो सांसारिक विलासमय प्रेम का विरोधी है, एक पत्र लिखकर एक घटना सुनाते हैं। पत्र-लेखक महोदय प्रेम से स्वयं अपरिचित हैं परन्तु प्रेम से पीड़ित व्यक्तियों के दर्द को पहचानते हैं और उनसे सहानुभूति रखते हैं। एक दिन अमावस्या की रात्रि को शोर सुनकर उनकी नींद उचट जाती है और वे देखते हैं कि उनके नौकरों ने एक चोर को पकड़ रखा है जो जमीन पर से एक पोटली उठा कर भाग रहा था। इसी समय प्रभात के सम्मुख उनकी नौकरानी मंगला आ खड़ी होती है और सारा अपराध अपने सिर लेकर उस चोर को निर्दोष घोषित करती है क्योंकि वह पोटली मंगला ने ही ऊपर से फेंकी थी। कारण पूछने पर मंगला बताती है कि वह व्यक्ति उसका पति है। दोनों भाग कर इस विदेश में चले आए थे। पति दिन भर मंगला के पास बैठा रहता था इसलिए कहीं भी नौकरी न कर सका। इसलिए मंगला नौकरी करती है और अपने पति का पेट भरने के लिए उसे चोरी करनी पड़ती है। यह सुनकर प्रभात मंगला को क्षमा कर देते हैं और उसके पति को भी अपने यहाँ नौकर रख लेते हैं। प्रभात को पूर्ण विश्वास है कि अब ये लोग कभी चोरी नहीं करेंगे परन्तु उनके अन्य नौकर सदैव सशंक बने रहते हैं।

इस घटना को लिखकर प्रभात केशव से पूछते हैं कि—"तुम्हारी क्या सम्मति है ? क्या मैंने भूल की ?"

इस लघु-कथा का यही सरांश है। यह पत्रात्मक शैली की कहानी है।

यह कहानी मनोवैज्ञानिक चरित्र-प्रधान कहानी है। इसमें इस पद्धति की अन्य कहानियों के ही समान कथानक का कोई विशेष महत्व नहीं है। कहानी के प्रारम्भ में लेखक कहानी की मूल संवेदना का संकेत दे देता है और केवल एक ही घटना द्वारा उसकी परिणति दिखा देता है। वह घटना केवल संकेत मात्र है जो प्रधान-चरित्र मंगला के चरित्र का पूर्ण विश्लेषण कर देती है। यहाँ लेखक का मूल उद्देश्य मंगला के चरित्र का विश्लेषण कर कहानी की मूल

संवेदना को ही चित्रित करना रहा है। साथ ही वह मंगला एवं उसके पति के चरित्र में एकाएक हुए परिवर्तन को भी दिखाता है। इस प्रकार लेखक उन आदर्श गुणों अथवा अवगुणों का मनोवैज्ञानिक विवेचन उपस्थित करता है अथवा परिवर्तित चरित्र का विश्लेषण करता है।

इस कहानी की मुख्य समस्या यह है कि क्या प्रेम का स्वरूप सांसारिकता और विलास से रहित हो सकता है। न तो प्रभात ने और न उसके मित्र केशव ने ही अभी तक प्रेम का ऐसा रूप देख पाया है जिसमें सांसारिकता और विलास न हो। केशव अभी तक इसी कारण अविवाहित है और बीमार बना रहता है। प्रभात भी सम्भवत: अविवाहित ही प्रतीत होता है। प्रभात ने भी प्रेम को कभी भर आँख नहीं देखा मगर वह केशव की अपेक्षा अधिक व्यावहारिक प्रतीत होता है। उसने स्वयं तो प्रेम नहीं किया परन्तु प्रेम करने वालों के दर्द को अवश्य पहचानता है और उनके प्रति सहानुभूति भी रखता है। मंगला और उसके पति की कथा उसके सम्मुख प्रेम का एक ऐसा अलौकिक, सांसारिक और गहन रूप प्रस्तुत करती है जिसमें सांसारिकता है, विलास है और प्रेम के लिए चोरी तक करना अवांछनीय नहीं है। सम्भव है कि समाज-शास्त्री और नैतिकता के समर्थक मंगला को चोर और उसके पति को अकर्मण्य सिद्ध करें परन्तु लेखक ने इस दम्पत्ति को जिन परिस्थितियों में रख कर चित्रित किया है वे मंगला और उसके पति को निर्दोष ही सिद्ध करती हैं। हमें यहाँ यह नहीं भूल जाना चाहिए कि लेखक प्रेम के स्वरूप को जानना चाहता है और मंगला और उसके पति के रूप में उसे प्रेम का ऐसा गहन रूप दिखाई देता है जिसमें दोष भी गुण बन जाते हैं।

मंगला ने चोरी का अपराध इसलिए किया क्योंकि वह अपने पति से प्रेम करती है। लेखक इस प्रेम पर विचार करता हुआ कहता है—"ये लोग दरिद्र हैं, किन्तु इनके पास हृदय है। ये प्रेम करना जानते हैं। एक के लिए दूसरा अपना सर्वनाश करने के लिए प्रस्तुत है। अभाव और दरिद्रता ने ही मंगला को चोरी करने के लिए वाध्य किया है।"

उपर्युक्त पंक्तियाँ काल्पनिक अर्थात् प्लेटोनिक-प्रेम की निस्सारता और मंगला और उसके पति के सांसारिक और विलासमय प्रेम की महत्ता और

श्रेष्ठता को सिद्ध करती हैं। इस उदाहरण द्वारा लेखक अपने मित्र केशव को यह अप्रत्यक्ष सन्देश देता है कि ऐसा सांसारिक और विलासमय प्रेम ही सब कुछ है। वह प्रेम कितना गहन और महान् होगा जिसके लिए मंगला अभाव और दरिद्रता से मजबूर होकर चोरी तक करने पर उतर आती है। वह स्वभाव से चोर नहीं है क्योंकि प्रेमी कभी बुरा नहीं होता। प्रेम मानव की सम्पूर्ण कलुषता को अपनी तीव्रता और पवित्रता की अग्नि में जला कर भस्म कर देता है। जब मंगला और उसके पति को आश्रय मिल जाता है तो वे चोरी करना छोड़ देते हैं। कलाकार लेखक ही चरित्र-परिवर्तन के इस महान् रहस्य को समझ सका है, उसके अन्य नौकर नहीं।

केशव से किया गया अन्तिम प्रश्न इस कहानी की संवेदना को और भी तीव्र कर देता है। अप्रत्यक्ष रूप से लेखक केशव पर यह सिद्ध करना चाह रहा है कि उसने जो कुछ किया वह सर्वथा उचित था। अत: साँसारिक विलासमय प्रेम काल्पनिक प्रेम से अधिक वास्तविक, अधिक गम्भीर, अधिक उदात्त और अधिक प्रभावशाली होता है। कहानी की मूल संवेदना यही है। लेखक ने अपनी अनुभूति के चित्रण द्वारा इसी संवेदना को साकार किया है।

इस कहानी में लेखक ने कार्यों और प्रसंगों की यथासम्भव कम सहायता ली है। परन्तु मनोवैज्ञानिक विश्लेषण इन्हीं थोड़े से कार्यों और प्रसंगों से पूर्ण हो जाता है। लेखक अपनी तरफ से कम विश्लेषण करता है। इस प्रकार इस कहानी में रस, कार्य, घटना-निर्देश का मणि-काँचन संयोग हुआ है। इस दृष्टि से इस मनोवैज्ञानिक चरित्र-प्रधान कहानी को अपने वर्ग की एक प्रतिनिधि रचना माना जा सकता है—शिल्पविधि की नवीनता, संवेदना की तीव्रता, गठन, कला, भाषा आदि सभी दृष्टियों से। थोड़े से ही वाक्यों और एक ही घटना द्वारा मंगला का चरित्र निखर उठा है।

भगवतीप्रसाद वाजपेयी

डा० लक्ष्मीनारायण लाल के शब्दों में—"...एक ओर शरदचन्द्र तथा दूसरी ओर प्रेमचन्द के व्यक्तित्व के सुन्दर 'तादात्म्यों' से निर्मित भगवती प्रसाद वाजपेयी प्रेमचन्द-संस्थान के आधुनिक कहानीकारों में अपना एक विशिष्ट स्थान रखते हैं। प्रेमचन्द की कहानी-कला की विकास कालीन धारा में, आगे चलकर हिन्दी के अनेक नए कहानीकार आए जिनकी कहानी कला मूलतः व्यक्तिगत, सामाजिक समस्या अथवा अवस्था विशेष, घटना विशेष, मानसिक प्रवृत्ति विशेष आदि इकाइयों के धरातल पर निर्मित हुई। वाजपेयी जी की कहानी-कला इस दृष्टि से इन नए कहानीकारों में सबसे उच्च कोटि की मानी जाती है।" लगभग बीस उपन्यास तथा दस-बारह कहानी-संग्रहों के धनी वाजपेयी जी की लेखनी आजकल भी अनवरत रूप के व्यस्त रहती है।

प्रेमचन्द के ही समान भगवती प्रसाद वाजपेयी का जन्म कानपुर जिले के एक अपढ़, साधारण स्थिति के ब्राह्मण-परिवार में हुआ था। इनके मामा संस्कृत के अच्छे विद्वान थे। वाजपेयी जी का बाल्यकाल इन्हीं मामा की संरक्षता में संस्कृत का अध्ययन करते हुए व्यतीत हुआ था। वाजपेयी जी का जीवन बचपन से ही संकटों की एक विकट संघर्ष-स्थली बना रहा था। सात वर्ष की अवस्था में मामा का देहान्त हो गया, इसलिए नियमित शिक्षा-क्रम में व्यवधान उपस्थित हो गया। फिर भी खींचतान कर किसी प्रकार इन्होंने हिन्दी-मिडिल पास किया और बस यहीं पर नियमित शिक्षा पर विराम-चिन्ह लग गया। रोजी-रोटी की चिन्ता से त्रस्त होकर ये गाँव की पाठशाला में अध्यापक बन गए। फिर गांव छोड़कर कानपुर आए और 'होमरूल' लीग

के पुस्तकालय में पन्द्रह रुपए मासिक पर एक मामूली लायब्रेरियन बन गए। सिर पर माता, पत्नी तथा बहनोई का भार था। अब तक इनके बड़े भाई भी थे परंतु सन् १९१९ में, जब इनकी अवस्था केवल बीस वर्ष की थी, अचानक बड़े भाई का देहान्त हो गया और ये असहाय से हो उठे। इन पर मुसीबतों का पहाड़ सा टूट पड़ा! चार साल बाद वह पुस्तकालय भी बन्द हो गया। लगी नौकरी जाती रही। इसके बाद इन्होंने अपनी पत्नी के गहने आदि बेचकर छोटी-सी पूँजी जमा की और दूकान खोल ली। परंतु हिन्दी के इस भावी महान् कथाकार के पीछे भाग्य हाथ धोकर पड़ा हुआ था। छः महीने बीतते-बीतते दूकान में चोरी हो गई और वाजपेयी जी दाने-दाने को मुँहताज हो गए।

इसके उपरान्त इन्होंने बड़े पापड़ बेले: बैंक में अवैतनिक खजांची का काम किया, कम्पाउन्डर बने, प्रूफ-रीडरी की परन्तु कहीं भी सफलता न मिल सकी। प्रूफ-रीडरी से एक ही लाभ हुआ जिसने इनके जीवन की दिशा और लक्ष्य को बदल दिया—ये 'संसार' नामक पत्र में सहकारी सम्पादक बन गए और आगे चलकर प्रधान सम्पादक भी हो गए। सम्पादन-कार्य के साथ-साथ इनकी साहित्यिक प्रतिभा, जो संकट-काल में सुषुप्तावस्था में पड़ी रही थी, उद्बुद्ध हो उठी। इसके उपरान्त इन्होंने कई अन्य पत्रों में सम्पादन का कार्य किया और इसके साथ ही इनकी लेखनी अनवरत रूप से प्रगति के पथ पर अग्रसर होती रही। इनकी पहली कहानी सन् १९२४ में 'माधुरी' में प्रकाशित हुई; जिसके सम्पादन-विभाग में ये कार्य करते थे। तब से आज तक ये एक संघर्षशील साहित्य-साधक के रूप में अनवरत क्रियाशील रहे हैं। इनका सम्पूर्ण जीवन अनगिनत संघर्षों की लम्बी कहानी है जिसे हिंदी के सुप्रसिद्ध कथाकार अमृतलाल नागर ने निम्नलिखित शब्दों में अङ्कित किया है—

"आवश्यकतावश घर की गाय, भैंस, बकरियाँ चरायीं, खलिहानों में दाँय और उड़नई का काम किया। पैसों की थैली लादकर साहूकारी की। उसके बाद गाँव के प्राइमरी स्कूल की अध्यापकी की। शहर की लाइब्रेरी में १५ रुपए मासिक पर लाइब्रेरियन रहे, किताबों का गट्ठर कन्धों पर लाद कर बेचा। बीबी के गहने बेच कर दूकानदार बने, तब चोरी हो गई। बंगाल बैंक की

खजांचीगीरी की, कम्पाउन्डर बने, प्रूफ-रीडर बने, सहकारी सम्पादक हुए, फिर सम्पादक बने। रोटी की लड़ाई में एक साधारण सिपाही बन कर वे आए और आज भारतीय जन-समाज के नामी जनरलों में उनका स्थान है। लगभग तीन सौ कहानियाँ, एक दर्जन उपन्यास, नाटक, निबंध, कोर्स की किताबें, रेडियो वार्ताएँ, फिल्म के कथानक-संवाद लिखकर एक अपढ़ किसान के बेटे ने कितना नाम कमाया है।"

जीवन-संघर्ष के ऐसे अडिग, उद्‌भट योद्धा और हिन्दी कथा-साहित्य के वर्तमान मूर्धन्य कलाकारों में सम्माननीय स्थान पाने के अधिकारी भगवती प्रसाद वाजपेयी साहित्यिक-क्षेत्र में बिना किसी की सहायता या अनुग्रह लिए स्वतः ही आगे बढ़े हैं। उन्होंने स्वयं अपना निर्माण किया है। इसी कारण स्वतन्त्र अध्यवसाय, घोर परिश्रम और स्वतन्त्र विचार—उनके स्वभाव के विशिष्ट अंग बन गए हैं। उनके चिन्तन में मौलिकता है, एक अभिनवता है। वे सत्य के सौन्दर्य के पुजारी हैं, मधुर स्वप्न तथा कटु सत्य का उनकी दृष्टि में कोई मूल्य नहीं हैं। वे साहित्य में सत्य का दर्शन, चिन्तन और मन्थन करने के अभिलाषी हैं। और स्वयं भी यथासाध्य इसी साधना में लगे रहते हैं। साहित्य-सृजन उनकी जीविका है, वे सर्वथा स्वतन्त्र रह कर साहित्य-रचना में लगे रहते हैं। यह आश्चर्य का विषय है कि जीवन में सदैव संघर्षों एवं कटुताओं का अधिकारी यह साहित्य-साधक व्यक्ति, समाज किसी के भी प्रति कटु न बन सका। उनके स्वभाव में एक ऐसी अद्‌भुत भावुकता है जिसने उन्हें काफी बदनाम भी किया है। एक बार ये अपनी दो वर्ष की बालिका का निधन हो जाने पर पत्नी-सहित गंगा में डूब मरने को तैयार हो गए थे। इस भावुकता ने आज भी इनके कर्मठ स्वभाव को आक्रान्त कर रखा है।

वाजपेयी जी मूलतः रोमान्टिक प्रवृत्ति के लेखक हैं। यह आश्चर्य की बात है कि इतना संघर्ष करने के उपरान्त भी ये प्रेमचन्द के समान व्यावहारिक आदर्शवादी न बन सके। सम्भवतः इसका कारण यह रहा हो कि ये शरद्‌चन्द्र आदि से अधिक प्रभावित थे। रूसी कथाकार दोस्तोवस्की के मनोविश्लेषण का भी इन पर गहरा प्रभाव है। एक तरफ ये गोर्की से प्रभावित हैं तो दूसरी ओर फ्रायडवादी डी० एच० लारेंस का भी इन पर गहरा प्रभाव है। इन परस्पर-

विरोधी विभिन्न प्रभावों का ही एक कलात्मक समन्वय भगवतीप्रसाद वाजपेयी को माना जा सकता है। सन् १९४० तक ये इन विभिन्न प्रभावों की परिधि में घूमते हुए साहित्य-रचना करते रहे थे परन्तु इसके उपरान्त इन्होंने इन प्रभावों से मुक्ति पा ली और आज वे स्वतंत्र रूप से अपनी एक मौलिक शिल्प-पद्धति का निर्माण कर उसी के अनुसार साहित्य-सृजन कर रहे हैं। अब उनका मत है कि कलाकार को शैली, अभिव्यंजना अथवा शिल्प-विधान के क्षेत्र में किसी का भी अनुकरण न कर अपने स्वतन्त्र शिल्प-विधान अथवा तकनीक का निर्माण करना चाहिए। उनके अनुसार कलाकार के लिए सबसे आवश्यक वस्तु है शैली और तकनीक की नवीनता। वाजपेयी जी के उपर्युक्त विचारों से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके समस्त कथा-साहित्य की दो दिशायें रहीं हैं। पहली प्रारम्भ से लेकर १९४० ई० तक तथा दूसरी १९४० से लेकर आज तक। १९४० के बाद उन्होंने शैली तथा तकनीक की ओर विशेष ध्यान देना प्रारम्भ किया है।

सन् १९५० तक इनके दस कहानी-संग्रह प्रकाश में आ चुके थे। इधर इनकी नई-पुरानी कहानियों के और भी कई संग्रह प्रकाशित हुए हैं और हो रहे हैं। काल-क्रमानुसार इनके कहानी-संग्रहों की तालिका इस प्रकार है—

१—मधुपर्क, (१९२९), २—दीपमालिका (१९३१), ३—हिलोर (१९३९), ४—खाली बोतल (१९४०), ५—मेरे सपने (१९४०), ६—ज्वार-भाटा (१९४०), ७—कला की दृष्टि (१९४२), ८—उपहार (१९४३), ९—अंगारे (१९४४), १०—उतार-चढ़ाव (१९५०)। इस तालिका से स्पष्ट होता है कि इन्होंने सन् १९४० के आसपास सबसे अधिक कहानियाँ लिखीं थीं। अतः वह काल इनकी कहानियों का संक्रान्ति-काल माना जा सकता है। इसी काल से इनके विचारों एवं तकनीक में क्रान्तिकारी परिवर्तन दिखाई पड़ता है। सन् १९४० के बाद एवं उससे पहले के काल में वाजपेयी जी के विचारों एवं भावनाओं में बहुत गहरा अन्तर रहा है। अपने प्रारम्भिक जीवन में उनकी स्थिति एक रस-लोलुप व्यक्ति की-सी थी जो नित्य के जीवन में केवल क्रीड़ा-कौतुक ही देखा करता था। 'भावना का सौन्दर्य' और 'रूप का आकर्षण' उनके अध्ययन के प्रधान विषय थे। असाधारणता उन्हें आकर्षित करती थी। उस समय वे एक प्रकार से स्वप्नदर्शी थे। वे प्रायः सोचा करते थे कि क्या—

'संसार कभी ऐसा नहीं बन सकता कि किसी प्राणी को कोई दुःख न हो।' परन्तु १९४० के आसपास उनके दृष्टिकोण में परिवर्तन होना प्रारम्भ हो गया। अब वे 'जीवन की कृत्रिमता, कुरूपता और धूर्तता के आगे सरलता, सादगी और सत्य की हार' को देख-देख कर पीड़ित नहीं होते बल्कि सजग हो जाते थे। उस समय उनकी इच्छा होती थी कि 'अपने पाठकों को मैं ऐसा लौहस्तम्भ बना दूँ कि लगातार असफल होने पर भी हार मानना उन्हें स्वीकार न हो।'

सारांश यह कि अब वे अपने स्वप्नलोक का परित्याग कर जीवन की वास्तविकता को उसके यथार्थ रूप में देखने का प्रयत्न करने लगे। इसी कारण इसके पश्चात् उनके कथा-साहित्य में यथार्थ का अङ्कन अधिक गहराई के साथ होने लगा। जीवन की साधारणता के अतिरिक्त उनका कलाकार जीवन की उन असाधारणताओं को भी देखने के प्रति सदैव सजग रहता था जो ऊपरी दृष्टि से देखने पर कल्पित-सी प्रतीत होती हैं। उन्होंनें स्पष्ट लिखा है कि-"साथ ही मेरा लक्ष्य उन वैज्ञानिक क्षणों में, उन असाधारण मनोवेगों को भी पकड़ने का होता है जो जीवन को हित या अहित की दिशा में बड़े वेग से प्रभावित करते हैं। अन्तर की आँखें खोलकर मैंने जगत को जैसा देखा, वैसा ही कथा रूप की प्रचलित प्रणालियों में व्यक्त किया है। साथ ही मैंने जीवन की सतह पर ही नहीं, उसके अन्तरंग को भी देखना चाहा है।" इस प्रकार वाजपेयी जी के कथा-साहित्य में प्रेमचन्द की यथार्थवादी दृष्टि भी मिलती है और जैनेन्द्र आदि मनोविश्लेषण-प्रधान कथाकारों की वह गहरी अन्तर्दृष्टि भी जो बाह्य के अतिरिक्त अन्तर का भी वैज्ञानिक विश्लेषण करती है। समष्टि रूप से वाजपेयी जी के कथा-साहित्य में 'बंगाली भावुकता', प्रेमचन्द की यथार्थवादिता तथा जैनेन्द्र आदि की मनोवैज्ञानिक विश्लेषण-पद्धति का अत्यन्त कलात्मक समन्वय मिलता है। इस समन्वय ने उनकी कहानियों की रोचकता को बढ़ाया है, उनमें दुरूहता भी उत्पन्न की है और उनके रूप को अधिक कोमल, आकर्षक और कलात्मक भी बनाया है।

डा० लक्ष्मीनारायण लाल ने वाजपेयी जी के समस्त कहानी-साहित्य को तीन कालों में विभक्त कर उसका अध्ययन किया है। इस विभाजन से यह स्पष्ट

हो जाता है कि उनके विचार, दृष्टिकोण एवं शिल्प-विधान में उत्तरोत्तर कैसे परिवर्तन होते गए हैं। यह विभाजन इस प्रकार है—

१—सन् १९२९ से १९३९ तक—'मधुपर्क', 'हिलोर', 'दीपमालिका' और 'पुष्करणी' नामक कहानी-संग्रह।

२—सन् १९४० से १९४२ तक—'मेरे सपने', 'ज्वार-भाटा' और 'कला की दृष्टि' नामक कहानी संग्रह।

३—सन् १९४३ से आज तक—'उपसंहार', 'अंगारे' और 'उतार-चढ़ाव' नामक कहानी-संग्रह।

पहले काल की कहानियाँ द्विवेदी-युगीन अधिकांश कहानियों के समान इतिवृत्तात्मक हैं जिनमें संयोगों और घटनाओं की भरमार सी रहती है। कहानियाँ भूमिका के साथ प्रारम्भ होती हैं और 'चमत्कारिक घटनाओं' तथा 'अप्रत्याशित कार्य-व्यापारों' द्वारा कथानक का विकास होता है। प्रो० वासुदेव के कथनानुसार उनकी इस काल की सर्वश्रेष्ठ कहानी 'निंदिया लागी' मानी जाती है।

दूसरे काल की कहानियों में यथार्थ-चित्रण और स्वाभाविकता की ओर लेखक का अधिक आग्रह दिखाई पड़ता है। कथावस्तु इतिवृत्तात्मक न रह कर अधिक सूक्ष्म होती चली गई है। संयोगों और अप्रत्याशित घटनाओं का सहयोग बहुत कम लिया गया है। भूमिका तथा उपसंहार देने की प्रवृत्ति समाप्त हो चुकी है। लेखक जीवन की यथार्थता और मानसिक स्थितियों के विश्लेषण की ओर अधिक झुका हुआ प्रतीत होता है। इस विश्लेषण में तीव्रता और सहजता का सहज समावेश हुआ है। प्रत्येक कहानी जीवन के किसी करुण-प्रसंग को लेकर प्रारम्भ होती है और लेखक की जिज्ञासा को स्पष्ट कर समाप्त हो जाती है। कहानी समाप्त हो जाने पर भी पाठक को ऐसा नहीं लगता कि कहानी समाप्त हो गई है। इसलिए पाठक किसी चिरन्तन समस्या के प्रति सोच उठने के लिए बाध्य हो जाता है। कहानी की यही अपूर्णता उसका प्रधान आकर्षण बन जाती है जो रवीन्द्र की कहानियों की विशेषता मानी जाती है। पाठक उस कहानी को भूल नहीं पाता। यही उसका अमिट प्रभाव है। इस काल की इनकी सर्वश्रेष्ठ कहानियों में 'खाली बोतल' और 'अंधेरी रात' को माना

जाता है। उस काल में हिन्दी में इस प्रकार की कहानियों का प्रचलन बड़ी तीव्र गति से हुआ था। जैनेन्द्र आदि ने भी इसी काल में इस पद्धति की कहानियाँ लिखना प्रारम्भ किया था।

तीसरे काल की कहानियों में दूसरे काल की कथावस्तु की सूक्ष्मता और भी अधिक बढ़ जाती है। कथा का केन्द्र-बिन्दु जीवन का कोई मार्मिक प्रसंग बन जाता है। लेखक छोटे-छोटे प्रसंग उठाकर उन पर चिन्तन और मनन करता है और उसका यह चिन्तन और मनन अत्यन्त सूक्ष्म रूप से कथा की डोर के सहारे आगे बढ़ता रहता है। प्रो० वासुदेव इस काल की एक-एक कहानी को जीवन के किसी एक प्रसंग का 'स्नैप-शॉट' मानते हैं। इनमें वर्णन की न्यूनता आती चली गई है। कथोपकथन सूक्ष्म और सांकेतिक होते चले गए हैं। चरित्र की महत्ता क्षीण हो चली है। इस काल की इनकी सर्वश्रेष्ठ कहानियों में 'नर्तकी', 'छोटे बाबू', 'वह रात', 'रात के दो बजे' आदि को माना जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि वाजपेयी जी अपनी कहानियों में निरन्तर स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ते चले गए हैं। इसी कारण इनकी कई कहानियाँ प्रतीकात्मक हो गई हैं। मुक्तक के समान वे स्वयं में पूर्ण होती हैं और उसी के समान कलात्मक और प्रभावशालिनी भी। उनमें उत्तरोत्तर व्यंजनात्मकता का समावेश अधिकाधिक होता चला गया है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वाजपेयी जी के विचार, दृष्टिकोण और शिल्प-विधान में उत्तरोत्तर परिवर्तन होता चला गया है। परन्तु यहाँ इस तथ्य को भी स्पष्ट कर देना चाहिए कि इस विकास एवं परिवर्तन के बावजूद भी वाजपेयी जी की समस्त कहानियों का धरातल प्रारम्भ से लेकर आज तक सदैव एक ही रहा है। इन्होंने सर्वत्र ह्रासोन्मुख जीवन की विविध इकाइयों को अपनी श्रेष्ठ कला में संजोकर अपूर्व ढङ्ग से मानव संवेदना का स्पर्श किया है। सभी कहानियों की संवेदनायें हमारे सामाजिक क्षेत्र तथा उसकी विशिष्ट स्थितियों से चुनी गई हैं। डा० लक्ष्मीनारायण लाल ने इनकी इसी विशेषता को स्पष्ट करते हुए लिखा है—

"समस्त कहानी-संग्रहों में संकलित वाजपेयी जी की कहानियों के स्वर एक हैं—मध्यवर्गीय समाज, उसकी अपनी मान्यताएँ, मान्यताओं के उतार-चढ़ाव,

उत्थान-पतन, उन्नयन और ह्रास और उसके भी ऊपर एक कटु आलोचक की भाँति समाज को अत्यन्त समीप से देखना, लेकिन उसके साथ-ही-साथ अपनी परम भावुकता, आदर्शवादिता और भारतीयता के स्पर्शों से समाज के कुचक्रों, भयानक विवर्त्तों में पड़े हुए घायल उदास-असहाय व्यक्तियों के हृदय में रंग देना इन कहानियों की अपनी विशेषता है।"

इनकी सम्पूर्ण कहानी-कला निर्माण-कला और प्रेरणा दोनों ही दृष्टियों से प्रेमचन्द के आदर्शोन्मुख यथार्थवाद से विशेष रूप से प्रभावित हैं । प्रारम्भ से अन्त तक सभी कहानियों की स्थिति एक-सी ही रही है। समाज की विकृतियाँ उनके कहानी-साहित्य में अपने विभिन्न रूपों में आलोचना और चित्रण का विषय बनी हैं। इसका एक उदाहरण द्रष्टव्य है—'अँधेरी रात' नामक कहानी में वेश्या कजली के यथार्थ जीवन को मानव संवेदनशीलता के प्रकाश में अंकित किया गया है और इस चित्रण द्वारा ह्रासोन्मुख समाज को एक अत्यन्त करुण, मार्मिक और भयानक चुनौती दी गई है। अन्य अनेक प्रसिद्ध कहानियों की पृष्ठभूमि में वाजपेयी जी की वही संवेदनशीलता आदर्श भावना के रूप में व्यक्त हुई है। इधर हाल की उनकी कहानियों में मनोविश्लेषण पर आधारित चारित्रिक अन्तर्द्वन्द्व अपेक्षाकृत अधिक उभर कर आया है और इसे उन्होंने कहानी की नवीन शिल्प-विधि द्वारा व्यक्त किया है।

वाजपेयी जी की कहानियों में मध्यम वर्गीय ह्रासोन्मुख समाज के सजीव चित्र हैं। इस चित्रण में उन्होंने प्रमुख रूप से इस समाज के 'प्रेम' तथा 'वेदना' को ही अधिक अङ्कित किया है। उनके नायक प्रेम में निराश होकर अमित वेदना के गद्य-गीत गाते रहते हैं। उनके अन्य पात्र भावना और विवेक द्वारा समाज की रूढ़ियों पर करारी चोट करते हैं परन्तु इस चोट में भयानक निर्ममता न होकर एक ऐसी संवेदनशीलता रहती है जो सारे प्रभाव को करुण बना देती है। उनकी सहज मधुरता पाठक को अपनी ओर आकर्षित कर लेती है। यही कारण है कि इनके पात्र विद्रोह, सुधार या क्रांति का मंत्र नहीं फूँकते। वे अपने चिन्तन और भावुकता में बहते हुए वाह्य तूफान की अपेक्षा अपने आन्तरिक झंझावात को ही अधिक स्पष्ट करने में लगे रहते हैं। इसी कारण वाजपेयी जी की कहानियों में उस व्यंग्य के दर्शन नहीं होते जो

काँटे की सी कठोरता और तीक्ष्णता द्वारा पाठक को तिलमिला देता है। इसका कारण यह रहा है कि वाजपेयी जी ने हमारे सामाजिक जीवन को उसके समग्र रूप में न देखकर उसके खण्ड-खण्ड करके देखा है। इस सम्बन्ध में नन्ददुलारे वाजपेयी ने यथार्थ ही लिखा है कि—

"वाजपेयी जी की शैली व्यंग्यात्मक नहीं है; यद्यपि जीवन के व्यंग्य को वे काफी बेरहमी के साथ चित्रित करते हैं। उनका चित्रण-क्रम तटस्थता लिए हुए नहीं है। और अक्सर यह शंका उत्पन्न करता है कि रचनाकार की व्यक्तिगत सहानुभूति भी अस्त-व्यस्त जीवन की अस्त-व्यस्त प्रवृत्तियों के प्रति है।"

रोमान्टिक कल्पना की प्रधानता ने ही वाजपेयी जी के कहानी-साहित्य में इस दोष को उत्पन्न किया है। रोमान्टिक कल्पना यथार्थ की उपेक्षा कर जाती है। इसके पाश में ग्रस्त लेखक मानव-जीवन की विषमताओं के भौतिक कारणों की ओर ध्यान नहीं दे पाता। यही कारण है कि वाजपेयी जी अपनी कहानियों में चारित्रिक और मनोवैज्ञानिक वैचित्र्य का ही उद्घाटन करने में व्यस्त रहे हैं। दुख और कष्ट-सहिष्णुता ही उन्हें अपनी ओर आकर्षित किए रहती है, दुख और कष्ट के मूल कारण नहीं। यहीं आकर प्रेमचन्द और भगवती प्रसाद वाजपेयी में मौलिक अन्तर आ जाता है। प्रेमचन्द मूल कारणों पर अधिक बल देते हैं और वाजपेयी जी उनकी उपेक्षा कर जाते हैं। दृष्टिकोण के इसी भेद के कारण प्रेमचन्द हमें अधिक प्रभावित करते हैं और वाजपेयी जी असफल रहते हैं। वे हमारी संवेदनाओं को तनिक सा उकसा कर ही चुप रह जाते हैं। मनोविश्लेषणवादी आलोचक इसे उनकी कहानी-कला की एक विशिष्ट देन और आकर्षण मानता है तथा यथार्थवादी इसे दोष के रूप में ही स्वीकार करता है। यथार्थवादी इसे दोष इसलिए मानता है कि जब लेखक बहिर्गत परिस्थितियों का विश्लेषण न कर मानवीय वृत्तियों के सूक्ष्म चित्रण में उलझ जाता है तो वह जीवन और समाज की समस्याओं से उदासीन होकर भावुकता में बहता हुआ कल्पना की ऊँची उड़ानें भरने लगता है और वहीं उसकी कल्पना जीवन का साथ छोड़ जाती है। वाजपेयी जी के कहानी-साहित्य का यह एक दोष माना जाता है।

क्योंकि 'प्रेम' और 'वेदना' उनके कहानी-साहित्य का प्रमुख विषय है

इसलिए उसमें नारी के विविध रूपों के दर्शन होते हैं जो कोमल, करुण और भावुक हैं। उनकी कहानियों में नारी के दुख-दर्द, शोषण, उत्पीड़न, प्रेम की निराशा आदि का बड़ा मार्मिक चित्रण हुआ है। नारी-पात्रों की तुलना में उनके पुरुष-पात्र निष्क्रिय, नीरस और शिथिल प्रतीत होते हैं। उनके पात्रों की एक विशेषता यह भी है कि उनके चरित्र का पूर्ण विकास नहीं हो पाता क्योंकि उनका उद्देश्य चरित्र-चित्रण करना न होकर मानव-हृदय के एक सामूहिक भाव का उद्बोधन करना होता है। परन्तु दूसरी तरफ इनके चरित्र-चित्रण का सबसे सबल पक्ष वह है जहाँ वे अपने पात्रों के चरित्रों का विश्लेषण मनोविज्ञान के आधार पर कर उनके सम्पूर्ण शुभ-अशुभ को खोलकर पाठकों के सामने रख देते हैं। किन्तु वे जहाँ कहीं इस विवेचन-विश्लेषण में अधिक उलझ जाते हैं वहीं उनकी कहानी दुरूह बन जाती है। ऐसे स्थलों में वे प्रायः फ्रॉयड के मनोविश्लेषण को अपना आधार बनाकर चलते हैं। परन्तु जहाँ कहीं वे फ्रॉयड से छुटकारा पाकर स्वनिरीक्षण से काम लेते हैं वहाँ उनकी कहानियाँ कला का सुन्दर रूप धारण कर लेती हैं और उनकी मर्मस्पर्शिता बढ़ जाती है।

वर्णन और संवाद की दृष्टि से भी इनकी कहानियों को सफल माना जाता है। इनके वर्णन संक्षिप्त होते हैं परन्तु उनसे सजीव चित्र से अंकित होते चले जाते हैं। साधारणतः उनके संवाद पात्रानुकूल, संक्षिप्त, मर्मस्पर्शी और रोचक होते हैं परन्तु दार्शनिकता का भूत सवार होते ही उनका रूप विकृत हो उठता है। ऐसे अवसरों पर उनमें अस्वाभाविकता, नीरसता और बोझिलता आ जाती है। ये संवाद चरित्र्योद्घाटन में तो सहायता अवश्य करते हैं परन्तु कथानक के विकास में सहायक नहीं हो पाते।

शैली के क्षेत्र में इन्होंने कई प्रकार के प्रयोग किए हैं। कहीं कहानी का प्रारम्भ प्रसाद के समान कथोपकथन से होता है, कहीं चिन्तन से, कहीं घटना से, और कहीं पात्र प्रथम पुरुष में अपनी आप-बीती सुनाने लगता है। इनकी प्रारम्भिक कहानियों में भूमिका और उपसंहार से कहानी का आदि और अन्त हुआ करता था परन्तु बाद में इन्होंने इस शैली को त्याग कर भूमिका और उपसंहार को अलक्ष्य रूप से कहानी में ही मिलाना आरम्भ कर दिया। समष्टि

रूप से इनकी कहानियों में कहानी-शिल्प के बहुमुखी प्रयोग मिलते हैं। इनकी तकनीक कहानी की सोद्देश्यता को पूर्ण करने में पूर्णत: समर्थ रहती है। अपने लघु कलेवर, तीव्र संवेदना और मर्म-स्पर्शिता के कारण इनकी कहानियों की तुलना "मुक्तक काव्य से की गई है जिसमें सोने की तौल जैसी सफाई और राई रत्ती तुली हुई डाँड़ी होती है। आवश्यकता से अधिक एक शब्द नहीं होता।" इन कहानियों की इसी विशेषता को लक्ष्य कर आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि इनकी कहानियाँ—

"सादे ढंग से केवल कुछ अत्यन्त व्यंजक घटनाएँ और थोड़ी बातचीत सामने लाकर क्षिप्र-गति से किसी एक गम्भीर संवेदना या मनोभाव में पर्यवसित होने वाली हैं।" परन्तु साथ ही ये कहानियाँ इतनी अस्पष्ट और गूढ़ होती हैं कि कहीं-कहीं अन्त तक प्रश्नात्मक और संशयात्मक बनी रहती हैं। इनका निष्कर्ष निकालने में पाठक सदैव सफल नहीं हो पाता। यही टेकनीक प्रकारान्तर से आजकल भी कई मनोविश्लेषणवादी कहानीकारों द्वारा अपनाई जा रही है। परन्तु आजकल के मनोविश्लेषणवादियों और वाजपेयी जी में बहुत बड़ा अन्तर है। वाजपेयी जी मनोविश्लेषण का प्रयोग मानसिक द्वन्द्वों का विश्लेषण करने के लिए ही प्राय: करते हैं न कि इन लोगों के समान फ्रॉयड के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के निरूपण के लिए। वाजपेयी जी का लक्ष्य इसके माध्यम से हमारी सामाजिक चेतना तथा उसके चीत्कार को अभिव्यक्त करना ही रहता है।

भाषा की दृष्टि से वाजपेयी जी को पूर्ण सफल तथा एक सुललित, भाव व्यंजक, सूक्ष्म, कोमल और स्निग्ध भाषा-शैली का कलाकार माना जा सकता है। उनकी भाषा में वही आकर्षण है जो छायावादी कविता में मिलता है। भाषा का रूप यद्यपि बोलचाल का तथा व्यावहारिक ही अधिक रहा है परन्तु साथ ही उसमें साहित्यिक सौष्ठव भी सर्वत्र विद्यमान रहता है। उसमें सरलता और स्वाभाविकता के साथ-साथ ऐसी लाक्षणिकता मिलती है जो उनके कटु-मधुर व्यंग्यों का भार वहन करने में सर्वथा समर्थ होती है। प्रवाह, प्रांजलता आदि उनकी भाषा-शैली के प्रधान गुण हैं।

पाँडेय बेचन शर्मा 'उग्र'

पाँडेय बेचन शर्मा 'उग्र' हिन्दी के एक ऐसे कहानीकार हैं जिन्होंने प्रेमचन्द के जीवन काल में ही अपनी प्रकृतवादी कहानियाँ लिखकर हिंदी-संसार का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर लिया था। इनके कहानी-क्षेत्र में पदार्पण करते ही एक तहलका-सा मच गया था। इनकी कहानियों की मौलिकता, नवीनता, तीक्ष्णता एवं माँसलता की वजह से पाठकों का ध्यान जितनी द्रुति गति से उनकी ओर आकृष्ट हुआ था उतनी ही त्वरित गति से हिन्दी के तत्कालीन स्वयंभू आलोचकों की कठोर दृष्टि इनकी ओर उठी थी। प्रो० वासुदेव के शब्दों में—"हिन्दी कथा साहित्य में उग्र जी उल्कापात की तरह १९२२ में आए। आपके आने से हिन्दा के कहानी-साहित्य में नवीन शक्ति और क्रान्ति का प्रादुर्भाव हुआ। हिन्दी के पाठक प्रेमचन्द-स्कूल की कहानियाँ पढ़ने में अपनी अभिरुचि दिखला रहे थे। इसी बीच उग्रजी बवन्डर की तरह आए।"

ऐसे 'बवन्डर' के समान 'उग्र' सन् १९०१ में मिर्जापुर जिले के चुनार नामक कस्बे में अवतरित हुए थे। यद्यपि इनकी रुचि बचपन से ही अध्ययन-अनुशीलन की ओर थी परन्तु अपने स्वभाव की उग्रता के कारण इनकी शिक्षा-दीक्षा विधिवत् नहीं हो सकी और असहयोग आन्दोलन के जमाने में ये स्कूली-शिक्षा को तिलांजलि देकर राजनीति और साहित्य के क्षेत्र में कमर कसकर उतर पड़े। राजनीति में न तो इनका मन ही रमा और न कोई सफलता ही मिली परन्तु साहित्य में इन्होंने अल्पकाल में ही अच्छे-अच्छे महारथियों को भी नीचा दिखाकर अपनी विजय का डंका बजवा ही लिया। सन् १९४० तक

हिन्दी कथा-साहित्य में 'उग्र' का काफी बोलबाला रहा परन्तु आलोचक का कलम में बड़ी ताकत होती है। अन्ततः हिन्दी के सजग सतर्क आलोचकों ने इनकी लोकप्रियता को कम करने और अन्त में एक प्रकार से नष्ट ही कर देने में सफलता पाई। 'उग्र' आजकल भी लिखते हैं, उनकी जीविका का एकमात्र साधन उनकी लेखनी ही है परन्तु अब 'उग्र' इतिहास की सी घटना बन गए हैं जिनका एक युग-विशेष में ही उल्लेख किया जाता है। प्रेमचन्द, प्रसाद आदि आज भी उतने ही लोकप्रिय हैं जितने कि अपने समय में थे। परन्तु 'उग्र' की लोकप्रियता नष्ट हो चुकी है।

'उग्र' की अपने समय की इतनी अधिक लोकप्रियता निराधार नहीं थी। उसका आधार अत्यन्त दृढ़ था परन्तु उस दृढ़ता में समय की आगे बढ़ती हुई प्रगतिशील विचारधाराओं एवं भावनाओं की टक्कर झेलने की शक्ति नहीं थी। वह युग के साथ आगे बढ़ने में असमर्थ थी। चिरकाल तक नवीन बने रहने वाले साहित्य की अपनी कुछ ऐसी विशेषतायें होती हैं जिन्हें समय की गति नष्ट करने में असमर्थ रहती है। और ये विशेषतायें हैं—कलाकार की वे मानवीय, पूत एवं संवेदनशील भावनाएँ जो जन-जन की कल्याण-भावना को ही अपना एकमात्र लक्ष्य मानकर चित्रित की जाती हैं। उनमें संयम रहता है, एक गम्भीर दृढ़ता रहती है, कला के शाश्वत सिद्धान्तों का अनुगमन रहता है, मानव की चिरन्तन समस्याओं एवं प्रश्नों का स्वस्थ, संतुलित, संवेदनशील अंकन और समाधान रहता है तथा सर्वोपरि सभी प्रकार की ऐसी नैतिकता की स्थापना की जाती है जो मानव को सदैव आगे बढ़ने की प्रेरणा प्रदान करती रहती है। केवल नवीन कलात्मक प्रयोगों परन्तु कुत्सित भावनाओं का चित्रण करने वाला साहित्य समय के आघात को न सहकर नष्ट हो जाता है। साहित्य में कुत्साओं एवं कुंठाओं का अंकन वांछनीय माना गया है परन्तु उसी रूप में कि उसका अंकन करने में स्वयं कलाकार उससे तटस्थ रहे, उसमें रस न ले। यदि कलाकार कुत्सित का अंकन स्वयं रस ले-लेकर करता है तो उससे उन कुत्साओं के प्रति पाठकों के मन में घृणा उत्पन्न न होकर आकर्षण ही उत्पन्न होता है! 'उग्र' आदि कहानीकारों का साहित्य इसी प्रकार का था।

'उग्र' को कहानी-कला के किस संस्थान में स्थान दिया जाय, यह एक

समस्या बन गई है । डा० लक्ष्मीनारायण लाल ने 'उग्र' को प्रसाद-संस्थान का कहानीकार माना है; डा० श्रीकृष्ण लाल 'उग्र' को प्रकृतवादी (Naturalistic) कहानियों का जन्मदाता मानते हैं; प्रो० वासुदेव हिन्दी-कहानियों का वर्गीकरण कर 'उग्र-स्कूल' का पृथक् एवं स्वतन्त्र अस्तित्व मानते हैं तथा कुछ लोग इन्हें प्रेमचन्द-संस्थान से सम्बद्ध कर देते हैं । डा० लाल 'उग्र' के व्यक्तित्व को प्रसाद-संस्थान के कहानीकारों में सबसे अधिक आकर्षक मानते हैं, परन्तु 'उग्र' के कहानी-साहित्य का अध्ययन प्रो० वासुदेव के मत को ही संगत सिद्ध करता है । 'उग्र' के कथा-साहित्य में अपनी एक विशिष्ट मौलिकता है, यथार्थ का ऐसा एक तीखापन है जो उनसे पहले हिन्दी-साहित्य में नहीं दिखाई पड़ा था । विषय, कला, भाषा, लक्ष्य आदि सभी दृष्टियों से उग्र-साहित्य में एक अपूर्व मौलिकता थी जो आकर्षित करती थी । यह दूसरी बात है कि उनके साहित्य में प्रसाद की कहानी-कला की आंशिक छाया दिखाई पड़ जाय, या प्रेमचन्द की सशक्त चित्रण-शैली का प्रभाव हो । परन्तु समष्टि रूप से उग्र हिन्दी-कहानी साहित्य के ऐसे महारथी रहे हैं जिनका अपना स्वतन्त्र दृष्टिकोण था, अपनी मौलिक शैली थी और एक भिन्न प्रकार का प्रभाव डालने की शक्ति थी।

'उग्र' अपने इस उपनाम के अनुरूप ही स्वभाव से उग्र हैं । बात कहने में खरे और विरोध होने पर गाली-गलौज तक उतर आने वाले । वे स्वभाव से अत्यन्त अक्खड़ और विद्रोही हैं । विरोधों की उन्होंने कभी परवाह नहीं की, और न आज इस ढलती अवस्था में ही करते हैं । मित्र उनसे कतराते हैं, प्रकाशक उनसे बचने का प्रयत्न करते रहते हैं । परन्तु उग्र अपने जीवन के इस सन्ध्या काल में भी वैसे ही उग्र बने हुए हैं जितने कि अपने यौवन में थे । हिंदी साहित्य में जितना कटु एवं उग्र विरोध महाप्राण निराला को सहना पड़ा है, उग्र को उससे कम नहीं सहना पड़ा । परन्तु निराला आज एक स्वर से हिन्दी के मूर्धन्य कलाकारों में मान्य हैं और उग्र इतिहास की वस्तु बन चुके हैं । उग्र की अनैतिक उश्रृङ्खलता एवं साहित्यिक असंयम उनकी इस साहित्यिक मृत्यु के प्रधान कारण रहे हैं । परन्तु एक समय था जब उग्र प्रसिद्धि के सर्वोच्च शिखर पर आसीन थे । यहाँ हमें उग्र की इसी प्रसिद्धि का रहस्य देखना अभिप्रेत है ।

'उग्र' मूलतः विद्रोह के कलाकार हैं। उन्होंने राजनीति, समाज, व्यक्ति आदि सभी की रूढ़ियों पर भयंकर प्रहार किए हैं। समाज की सर्वमान्य नैतिक मान्यताओं के खोखलेपन का पर्दाफाश किया है। इनका सदैव यही प्रयत्न रहा कि ये अपनी लौह-लेखनी द्वारा रूढ़ियों के पर्दे को चीरकर उनका यथार्थ रूप समाज के सम्मुख स्पष्ट कर सकें। इसके लिए वे एक प्रकार से नग्न यथार्थवाद की पद्धति को अपनाकर साहित्य के क्षेत्र में उतरे। इनका मुख्य उद्देश्य समाज का सुधार करना था परन्तु इसके लिए इन्होंने जो पद्धति अपनायी उसमें नग्न चित्रण का आधिक्य रहने के कारण उसका प्रभाव अशुभ ही अधिक पड़ा। नग्न चित्रण साधारण पाठकों को आकर्षित करता है। वे लेखक की मूल भावना एवं उद्देश्य की उपेक्षा कर केवल उस नग्न-चित्रण में ही रस लेने लगते हैं: इसका प्रभाव अपरिपक्व मस्तिष्कों पर बड़ा घातक पड़ता है। नग्न-चित्रण को जब शालीनता एवं सौम्यता का आवरण डालकर प्रस्तुत किया जाता है तभी वह ग्राह्य बन सकता है। अश्लीलता का समाज ने सदैव विरोध किया है और करता रहेगा। उग्र की इसी अश्लीलता को लक्ष्य कर डा० श्रीकृष्ण लाल ने उग्र, ऋषभचरण जैन, चतुरसेन शास्त्री जैसे प्रकृतवादी कहानीकारों के सम्बन्ध में लिखा था—

"इन कहानियों का मुख्य उद्देश्य समाज का सुधार करना अवश्य था, परंतु उसमें मानवता की लज्जाप्रद और घृणास्पद बातें कलात्मक सौन्दर्य के साथ चित्रित की गई हैं। उनके सुन्दर और सत्य होने में कोई सन्देह नहीं—चरित्र-चित्रण और शैली की दृष्टि से वे बड़ी शक्तिशाली और सुन्दर रचनायें हैं, परन्तु साथ ही वे अमंगलकारक और कुरुचिपूर्ण हैं। उनके कथानक साधारणतः वेश्याओं, खानगियों, विधवाश्रमों, सड़क पर भीख माँगने वालों और गुंडों के समाज से लिए गए हैं। उनका चरित्र-चित्रण यथार्थ और सजीव है, कला उनकी निर्दोष है, परन्तु जनता की रुचि और मङ्गल-भावना के लिए यह अच्छा होता कि ये समाज-सुधारक अपनी अपूर्व प्रतिभा का उपयोग किसी भिन्न रीति से करते।"

इस भावना के इसी प्रदर्शन के कारण उग्र के साहित्य को उनके समकालीन कई आलोचकों ने 'घासलेटी साहित्य' कहकर पुकारा था परन्तु ऐसा कहना उग्र

के साहित्य के साथ अन्याय करना था। इन आलोचकों की दृष्टि उग्र के उन अश्लील एवं वीभत्स वर्णनों तक ही सीमित होकर रह गई थी। ये लोग उग्र की उस पावन भावना को नहीं समझ पाए थे जो उग्र के समस्त साहित्य की मूलाधार थी। यह सत्य है कि उग्र ने अपनी उस पूत भावना को प्रकाशित करने के लिए गलत शैली अपनाई थी। साहित्य में अश्लीलता दोष मानी गई है। साहित्यकार को उससे सदैव बचना चाहिए। प्रसिद्ध प्रगतिशील कथाकार और विचारक यशपाल की कुछ कहानियों एवं उपन्यासों में उग्र जैसी ही विकृत अश्लीलता का अंश आ गया था जिसके लिए उनके समान धर्मी आलोचकों ने उनकी कटु आलोचना की थी। पावन उद्देश्य के लिए जब माध्यम भी पावन ही होता है तभी वह उद्देश्य फलीभूत हो सकता है। उग्र की कहानी-कला को जब हम देखते हैं तो इस अश्लीलता के बावजूद भी हिन्दी के इस महान् सपूत के प्रति मन श्रद्धा से भर उठता है। उग्र को बदनाम करने में कुछ ऐसे कहानीकारों का भी काफी सहयोग रहा है जिन्होंने उग्र की इस पद्धति को अपनाने के प्रयत्न में उसे और भी अधिक विकृत और घृणित बना दिया था।

उग्र हिन्दी के एक महान् कथाकार हैं। वे शुद्ध रूप से यथार्थवादी कलाकार हैं। उन्होंने अपने चारों ओर फैले समाज के जिन रूपों को देखा है उनमें से चुन-चुनकर समाज की विकृतियों पर निर्मम होकर प्रहार भयंकर किए हैं। उन्होंने इन विकृतियों को जिस रूप में देखा है अपने कथा-साहित्य में उसका यथावत् चित्रण कर दिया है और यह चित्रण करते समय इस बात का ध्यान नहीं रखा है कि इस चित्रण का अपरिपक्व मस्तिष्क वाले पाठकों पर क्या प्रभाव पड़ेगा। उनका 'दिल्ली के दलाल' अपने समय का अत्यन्त प्रसिद्ध उपन्यास माना जाता था। उसके वर्णन एवं चित्रण में उग्र ने कहीं भी अतिशयोक्ति से काम नहीं लिया है परन्तु फिर भी आलोचकों ने उसे अछूत करार दे दिया था। उपन्यास-कला की दृष्टि से इसे एक अत्यन्त सफल उपन्यास माना जा सकता है परन्तु एकान्त प्रभाव की दृष्टि से उसका स्वागत नहीं किया जा सकता। उग्र ने अपनी कहानियों में समाज तथा विशेष रूप से देश का राजनीतिक प्रगतियों, गति-विधियों का जितना यथार्थ और सुन्दर वर्णन किया है उतना प्रेमचन्द के उपरान्त कुछ गिने-चुने कलाकार ही कर सके हैं। उग्र के

सम्भवतः अन्तिम कहानी-संग्रह "जब सारा आलम सोता है" में उग्र ने अपनी विभिन्न कहानियों द्वारा अवसरवादी राजनीतिज्ञों का ऐसा पर्दाफाश किया है कि उनकी कला एवं शक्ति देखते ही बनती है। समाज के अछूतों—वेश्या आदि, शोषितों, मजलूमों आदि के प्रति उग्र के हृदय में अमित करुणा एवं सहानुभूति है। उग्र ने इन्हीं लोगों की वास्तविक स्थिति को अपने कथा-साहित्य द्वारा समाज के सम्मुख रखने का प्रयत्न किया है। यह कहानीकार उग्र का एक पक्ष है जिसका विरोध हुआ है परन्तु उग्र ने हिन्दी को कुछ ऐसी श्रेष्ठ कलात्मक एवं उच्चकोटि की कहानियाँ प्रदान की हैं जो किसी भी साहित्य का गौरव बढ़ा सकती हैं। उनकी 'देशभक्त' शीर्षक कहानी ऐसी ही कहानी है।

'उग्र' लगभग सन् १९२० से लगातार कहानियाँ लिखते चले आ रहे हैं जो निम्नलिखित आठ संग्रहों में संग्रहीत हो चुकी हैं—

१—चिनगारियाँ, २—इन्द्र धनुष, ३—निर्लज्ज, ४—रेशमी, ५—बलात्कार ६—दोजख की आग, ७—सनकी अमीर, तथा ८—जब सारा आलम सोता है।

इन कहानियों का अध्ययन करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उग्र भविष्य के उज्ज्वल आदर्शों का स्वप्न देखने वालों में से नहीं हैं। वे समाज को जैसा देखते हैं उसे वैसा ही चित्रित कर देना अपनी कला का ध्येय मानते हैं। उनकी निरीक्षण शक्ति बड़ी गहरी, व्यापक और सूक्ष्म है। उन्होंने समाज, राजनीति, राष्ट्र-प्रेम, त्याग, हिन्दू-मुस्लिम समस्या आदि अनेक विषयों को अपनी कहानियों में समेटा है। उनका दृष्टिकोण यथार्थवादी अवश्य है परन्तु सामाजिक यथार्थवादी नहीं। उन्होंने यथार्थ चित्रण अवश्य किए हैं परन्तु वे इस यथार्थ के द्वारा कोई जीवन्त और स्वस्थ सन्देश देने में असमर्थ रहे हैं। उनकी कुछ कहानियाँ ऐसी हैं जो सोद्देश्य हैं। इनमें जीवन के प्रति आदर्शवाद की प्रेरणा है। इनमें कल्पना और भावुकता के आधार पर व्यंजना एवं प्रतीकों की सफल अवतारणा की गई है; जैसे 'देशभक्त'। कुछ कहानियाँ ऐसी हैं जिनमें केवल भावुकता का ही प्राधान्य रहा है। ये गद्य-गीत सी प्रतीत होती हैं, जैसे 'मुक्ता', 'संगीत', 'समाधि' आदि। कुछ कहानियाँ ऐसी हैं जिनमें जीवन के किसी एक सूक्ष्म पहलू को लेकर नाटकीय स्थितियों की अवतारणा की गई है, जैसे

'चुनरी की साध','चौड़ा छूरा', 'रेशमी' आदि कहानियाँ। परन्तु उग्र की अधिकांश कहानियों में कल्पना और भावुकता का इतना आधिक्य रहता है कि उनका विकास पूर्णरूप से नहीं हो पाता। इसका कारण यह है कि उग्र का व्यक्तित्व स्वच्छन्द है। वे किसी भी प्रकार के बन्धन को स्वीकार न कर अपनी मौज में लिखते चले जाते हैं।

जैसा कि हम ऊपर संकेत दे आए हैं, उग्र की सभी कहानियाँ प्रकृतवादी नहीं हैं। प्रारम्भ में उन्होंने मुख्यतः राजनीति को ही आधार बना कर कुछ कहानियाँ लिखीं थीं। इनमें उनके राजनीति सम्बन्धी उग्र विचारों के दर्शन होते हैं। इनमें भी राजनीति के क्षेत्र में पाई जाने वाली विकृतियों पर भयंकर प्रहार किए गए हैं। इनके अतिरिक्त इनकी लिखी कुछ प्रभाववादी ऐसी कहानियाँ हैं जो बड़ी कलात्मक हैं तथा जिनमें सामयिक सत्यों की बड़ी सुन्दर, यथार्थ, सशक्त और कलात्मक अभिव्यक्ति हुई है।

जब उग्र की प्रकृतवादी कहानियों 'बलात्कार' आदि को लेकर आलोचकों ने उन पर अश्लीलता का दोषारोपण किया था तो उग्र ने उस आक्षेप का उत्तर देते हुए लिखा था कि—"जो कुछ समाज में होता है, उसका चित्रण होना ही चाहिए। मेरी कहानियों में उपस्थित सामग्री को लेकर श्लीलता-अश्लीलता की, मंगल-अमंगल की बात उठाना व्यर्थ है क्योंकि जो समाज में होता है, जो सत्य है, जो यथार्थ है, उसके चित्रण में श्लीलता-अश्लीलता का सवाल नहीं उठाना चाहिए। समाज के ऐसे पक्ष पर चोट करने का साहस होना आवश्यक है—यदि हम समाज का रूप बदलने का लक्ष्य लेकर चले हैं तो।" क्योंकि आलोचकों की कृपा से उग्र की प्रकृतवादी कहानियों का ही अधिक प्रचार हुआ इसलिए पाठकों की रुचि या दृष्टि उनकी उन श्रेष्ठ कलात्मक कहानियों में नहीं रम सकी जो उक्त दोषों से मुक्त थीं। अतः उग्र की ऐसी श्रेष्ठ कहानियों का मूल्यांकन नहीं हो सका। और उग्र प्रकृतवादी कहानियों के लेखक के रूप में ही विख्यात बने रहे। अपनी इन कहानियों में उग्र समाज को बदलने का लक्ष्य लेकर चले थे परन्तु नग्न यथार्थ के आधिक्य के कारण लक्ष्य-भ्रष्ट हो गए।

कहानी लिखने में उग्र शिल्प की चिन्ता न कर केवल विषय पर ही अपना

ध्यान केन्द्रित रखते हैं। इस कारण उनके कथानक बड़े सुगठित और संक्षिप्त होते हैं। चरित्र-चित्रण के क्षेत्र में उग्र को अभूतपूर्व सफलता मिली है। उनके पात्रों का चरित्र जैनेन्द्र या अज्ञेय के पात्रों के समान अस्पष्टता, मनोवैज्ञानिकता, दार्शनिकता आदि के कुहासे से नहीं ढके रहते। वे जीवन क्षेत्र के कर्मठ योद्धा होते हैं। इसलिए उनके पात्रों में अपना एक विशिष्ट व्यक्तित्व, सजीवता और आकर्षण रहता है। वे काल्पनिक न होकर पूर्ण यथार्थ हैं। वे जीवन्त शक्ति के प्रतीक हैं जो संघर्षों में कभी न तो हिम्मत ही हारते हैं और न परिस्थितियों से विवश होकर समझौता ही करते हैं। इन पात्रों के मानसिक द्वन्द्वों का भी उग्र ने बड़ा कलात्मक एवं यथार्थ चित्रण किया है।

उग्र की वर्णन करने की शक्ति अद्भुत है। दृश्य-चित्रण करते समय वे सम्बन्धित दृश्य का सजीव-सा चित्र अंकित कर देते हैं। रूप-छवि का वर्णन करने में वे अपनी मौलिकता और कवित्व शक्ति द्वारा अपने पात्र में एक ऐसा आकर्षण उत्पन्न कर देते हैं जो पाठकों के हृदय पर उस रूप की अमिट छाप छोड़ जाता है। ऐसे स्थलों पर गद्यकाव्य का सा आनन्द आता है। पात्रानुकूल, चुभते हुए, संक्षिप्त एवं सरल संवाद लिखने में उग्र अत्यन्त कुशल हैं। उनमें पूर्ण स्वाभाविकता और एक गहरा व्यंग्य रहता है। ये संवाद चरित्र को स्पष्ट करने तथा कथानक को आगे बढ़ाने में पूर्ण सहयोग देते हैं।

भाषा-शैली की दृष्टि से उग्र का हिन्दी कहानी-साहित्य में अपना एक विशिष्ट स्थान माना जाता है। इनकी चलती, चुलबुली भाषा में ऐसी शक्ति और सजीवता रहती है जो अनायास ही पाठक के सम्पूर्ण ध्यान को अपनी ओर आकर्षित कर लेती है। उनकी भाषा बोलचाल की व्यावहारिक भाषा है, परन्तु मुहावरों, अलंकारों आदि के समावेश द्वारा उसमें एक ऐसी लाक्षणिकता आ जाती है जो अन्य कहानीकारों में बहुत कम मिलती है।

समष्टि रूप से भाषा, शैली, कथानक, कल्पना और भावुकता आदि सब में उग्र अपनी एक मौलिकता लेकर आए थे। विषय-प्रतिपादन करने की अद्भुत क्षमता, भाव-प्रवाह और मौलिक व्यंजना-शैली की मनोरंजकता उग्र की कहानियों की देन मानी जा सकती है। कथन की रमणीयता और रोचक, सजीव दृश्यों की सृष्टि करने में हिन्दी के बहुत कम कथाकार इनकी समता कर

सकते हैं। इस दृष्टि से उग्र हिन्दी के शीर्ष स्थानीय कहानीकारों में स्थान पाने के अधिकारी बन जाते हैं। 'देशभक्त' जैसी श्रेष्ठ कहानी के लेखक की हिन्दी में जितनी उपेक्षा हो चुकी है वह हिन्दी के लिए एक कलंक के समान है। हमने माना कि उग्र की प्रकृतवादी कहानियों में अश्लीलता है परन्तु उग्र का दृष्टिकोण अश्लीलता का प्रचार न कर सदैव उसका उन्मूलन करने का ही रहा है। यदि उग्र का व्यक्तित्व स्वच्छन्द न होता तो वे इस अश्लीलता के पंक से एक ऐसा कमल उत्पन्न करने में समर्थ होते जो अपने सौन्दर्य और सौरभ द्वारा मानव समाज में मंगल का वातावरण उत्पन्न करने में सफल रहता। भूतकाल में जो कुछ हो चुका वही उग्र के सम्पूर्ण व्यक्तित्व को छिन्न-भिन्न करने के लिए यथेष्ट था परन्तु साहित्य-क्षेत्र का यह महारथी सदैव अचल और अडिग बना रहा क्योंकि उसकी भावना कभी भी दूषित नहीं रही थी। अपने साहित्य द्वारा उसने सदैव मानव की कल्याण-कामना ही की थी। आज आवश्यकता है कि हमारे आलोचक उग्र-साहित्य का पुनर्मूल्यांकन करें और उनका उचित भाग उन्हें प्रदान करें। तभी हम उग्र की जीवन-व्यापी साहित्य-साधना के साथ उचित न्याय कर सकेंगे।

मोहनलाल महतो 'वियोगी'

मोहनलाल महतो 'वियोगी' हिन्दी के प्रसिद्ध कवि हैं परन्तु उन्होंने अनेक प्रभाव-प्रधान कहानियाँ लिखकर हिन्दी के कहानीकारों में एक उल्लेखनीय स्थान प्राप्त कर लिया है। यद्यपि इनकी कहानियों की संख्या कम ही है। इनकी विभिन्न कहानियों में प्रायः सामयिक सत्य की व्यंजना बड़े कलात्मक रूप में हुई है। इनकी प्रसिद्ध कहानी 'कवि' उग्र की कहानी 'देशभक्त' की शैली की ही रचना है। इन्होंने अपनी कई कहानियाँ एक भावना-विशेष को लेकर पुराण-कथा की शैली में लिखी हैं। इसके अतिरिक्त इन्होंने कुछ सामाजिक कहानियाँ भी लिखीं हैं जिनमें किसी-न-किसी आदर्श की प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष स्थापना अवश्य रही है। ये मूलतः कवि हैं इसलिए कल्पना और भावात्मकता इनकी कहानियों के निर्माण की आधार शिला रही है। इनमें कथानक का विशेष महत्व न रहकर किसी भावना के कवित्वपूर्ण चित्रण के प्रति ही अधिक आग्रह रहता है। भाषा में कवित्व का पुट रहने के कारण कहानियों में एक काव्यात्मक वातावरण की सी सृष्टि हो जाती है। इनकी 'कवि' शीर्षक कहानी अत्यन्त प्रसिद्ध है। इस कहानी को इनकी प्रतिनिधि रचना माना जा सकता है—निर्माण शैली, भाषा, कथानक आदि सभी दृष्टियों से।

'कवि' कहानी की संक्षिप्त कथा इस प्रकार प्रस्तुत की जा सकती है—

एक बार देव, बिहारी, केशव, तुलसी आदि स्वर्गीय कवियों ने भारती के द्वार पर सत्याग्रह कर देवलोक में खलबली मचा दी। विधाता ने आकर उन्हें समझाया मगर वे न माने। अन्त में सन्ध्या-समय भगवती वाग्देवी के मन्दिर

के द्वार खुले और कवि-समूह जय-जयकार कर उठा। माता ने इन कवियों को समझाया कि भारत का वायुमंडल इस समय कविता के लिए उपयुक्त नहीं है परन्तु तुम्हारी प्रार्थना को स्वीकार कर मैं एक बार ऐसा अवसर अवश्य दूँगी।

भगवती वाग्देवी की इस कृपा का पहला शिकार कलकत्ते का एक क्लर्क रामधन गुप्त बना। उसके चार-पाँच बच्चे और एक स्त्री है। एक दिन प्रातः काल उठते ही गुप्त जी काव्यमयी क्लिष्ट भाषा में अपनी पत्नी का अभिनन्दन कर प्रकृति-वर्णन करने लगे। पत्नी पहले तो कुछ समझ न सकी परन्तु फिर उसने भय से त्रस्त होकर अपने बड़े लड़के माधव को बुलाया। गुप्त जी की काव्य-धारा यथावत् प्रवाहित होती रही। माधव पिता को अस्वस्थ जान कविराज को बुला लाया। कविराज की श्वेत दाढ़ी को गुप्त जी ने आदि कवि की दाढ़ी समझ उनके दर्शन से स्वयं को धन्य घोषित कर दिया। कविराज महानारायण तेल, ब्राह्मी तथा चन्द्रोदय के सेवन का आदेश दे अपने घर लौट गए। गुप्तजी पुनः गद्य-काव्य की भाषा में प्रलाप करते हुए मन्द-मन्थर गति से बाहर चल पड़े। मुहल्ले वालों की भीड़ लग गई। चेथरू तेली बोला—'अरे, यह तो पागल हो गया।' और रामधन कवि को पकड़ कर कोठरी में बन्द कर दिया गया।

माँ सरस्वती ने कवियों को बुलाकर कहा कि रामधन हठात् कवि बन गया और उसकी कैसी दशा हुई। कवियों ने उसे अशिक्षित होने और उसके परिवार पर इसका दोष डाल एक और अवसर माँगा। 'तथास्तु' कहकर माँ अन्तर्धान हो गईं।

माँ सरस्वती की दूसरी कृपा विख्यात डिप्टी मजिस्ट्रेट एस० एन० सिंह पर हुई। वे इजलास में बैठे-बैठे एकाएक अपने सम्मुख प्रस्तुत अपराधी को बिना वकीलों की जिरह सुने मुक्त कर बैठे और करुणा से बिजड़ित हो इजलास में गद्य-काव्यमयी भाषा में व्याख्यान सा देने लगे। सारा न्यायालय उनके इस परिवर्तित रूप को देखकर स्तब्ध रह गया। गोरे जिलाधीश ने उन्हें बुलाकर इस बेकानून-कार्रवाई के लिए जवाब-तलब किया। डिप्टी साहब ने उसे भी उसी भाषा में उपदेश देना प्रारम्भ कर दिया और बलपूर्वक स्नेह से उसे गले लगा लिया। गोरे जिलाधीश ने उन्हें पागल करार दे दिया।

माता सरस्वती ने कवियों का आह्वान कर उन्हें समझाया कि इस समय भारत को कवियों की आवश्यकता नहीं है। कवियों ने माता को प्रणाम किया और क्षमा माँगी। अभागा भारत शून्य दृष्टि से आकाश की ओर देख आठ आठ आँसू रो उठा।

'कवि' कहानी की यही संक्षिप्त सी कथा है।

यह कहानी शुद्ध कल्पना द्वारा निर्मित सामयिक सत्य की व्यंजना करने में समर्थ एक सुन्दर कहानी है। इसमें लेखक इस सामयिक सत्य की व्यंजना करना चाहता है कि आधुनिक युग कवि और कविता के लिए उपयुक्त नहीं है। और इस सामयिक सत्य की व्यंजना करने के लिए वह पुराण-कथा की पद्धति पर एक विशुद्ध काल्पनिक कहानी गढ़ता है। हिन्दी के महान् कवि तुलसी, देव, बिहारी, केशव आदि भगवती वाग्देवी के द्वार पर इस बात के लिए सत्याग्रह करते हैं कि भारत में फिर से कवि उत्पन्न हों। माता सरस्वती रामधन क्लर्क और डिप्टी मजिस्ट्रेट एस० एन० सिंह पर अपना वरद-हस्त रखती हैं और फलस्वरूप समाज दोनों को पागल घोषित कर देता है। अन्त में वे कवि इस तथ्य को स्वीकार कर लेते हैं कि आधुनिक युग भारत में कवियों के लिए उपयुक्त नहीं और अपनी माँग वापस ले लेते हैं।

लेखक की स्वयं यह धारणा है कि आधुनिक युग भारत में कवियों के लिए उपयुक्त नहीं और वह अपनी इस धारणा को इस रूपक-कथा द्वारा व्यक्त करता है। वह जिस तथ्य को सत्य मानकर चित्रित करना चाहता है उसमें उसे अपनी दृष्टि से सफलता मिल जाती है। परन्तु यहाँ यह प्रश्न उठता है कि क्या लेखक की यह धारणा वास्तविकता पर आधारित है? क्या भारत का वर्तमान वातावरण कवि और कविता के लिए अनुपयुक्त है? साहित्य का पाठक कोई भी समझदार व्यक्ति इस धारणा को स्वीकार नहीं कर सकता। प्रसाद, निराला, पन्त, तथा अन्य अनेक श्रेष्ठ कवियों का यह वर्तमान युग यदि कवि और कविता के लिए उपयुक्त नहीं है तो फिर और कौन सा युग होगा। क्या ये कवि भारती के द्वार पर धरना देने वाले कवियों की तुलना में निम्न या नगण्य हैं? फिर लेखक ने अपनी यह धारणा कैसे बनाली? अतः इसे हम

सामयिक सत्य का चित्रण नहीं मान सकते । जो सामयिक सत्य उग्र की 'देश-भक्त' अज्ञेय की 'रोज' आदि कहानियों में व्यंजित हुए हैं वे वास्तव में सामयिक सत्य हैं। परन्तु 'कवि' कहानी का यह तथाकथित सामयिक सत्य अतिरंजना मात्र है । इसे किसी भी दशा में स्वीकार नहीं किया जा सकता ।

परन्तु कलाकार स्वच्छन्द होता है । उसकी अपनी धारणायें होती हैं, उसका अपना दृष्टिकोण होता है और वह उसी के अनुसार अपनी कलाकृतियों की रचना करता है । इस कहानी में मोहनलाल महतो 'वियोगी' ने, जो स्वयं एक अच्छे कवि हैं, कलाकार की उसी स्वच्छन्दता का उपयोग किया है । सम्भव है कि इसके मूल में कोई कोई दुर्घटना रही हो, या हो सकता है कि लेखक ने इस कहानी के माध्यम से अन्य कवियों पर व्यंग्य किया हो, समाज द्वारा उनकी उपेक्षा का चित्रण किया हो । इन विकल्पों में से अन्तिम विकल्प ही अधिक संगत प्रतीत होता है । हमारे समाज में कवियों को यथोचित सम्मान नहीं मिलता । साधारण जनता कवियों को निठल्ला समझती है और जिस पिता का पुत्र कविता करने लगता है वह पिता अपने पुत्र के भविष्य को अन्धकारमय समझ चिन्तित हो उठता है । यदि लेखक कवियों की इसी स्थिति को ध्वनित करने का आकांक्षी है तो उसका प्रयत्न सराहनीय है परन्तु आंशिक रूप से ही । कहा जाता है कि कवि उत्पन्न होते हैं, बनाये नहीं जाते । रामधन क्लर्क और डिप्टी मजिस्ट्रेट की परिस्थितियाँ उनकी इलहाम द्वारा प्राप्त कवित्व-शक्ति को सम्हालने में असमर्थ थीं । इसी कारण उन्हें पागल करार दिया गया । अन्य कवियों को क्यों पागल करार नहीं दिया जाता ? यह प्रश्न विचारणीय है ।

इन प्रश्नों से मुक्त होकर जब हम इस कहानी के रचना-विधान तथा अन्य गुणों आदि की ओर ध्यान देते हैं तो यह कहानी सुन्दर प्रतीत होती है । कथानक रूपक के रूप में चलता है । दो घटनायें लेखक के लक्ष्य की पूर्ति में सफल होती हैं । साथ ही वातावरण का चित्रण लेखक की संवेदना को सशक्त एवं स्पष्ट बनाने में पूर्ण योग देता है । रामधन और एस० एन० सिंह जिस वातावरण में रह रहे हैं वह कविता के सर्वथा अनुपयुक्त है । इसलिए ये दोनों घटनायें कहानी की मूल संवेदना एवं लक्ष्य को आगे बढ़ाने में पूर्ण समर्थ हैं । वैसे

काम तो पहली घटना से भी चल जाता परन्तु प्रभाव को अधिक व्यापक और गहन बनाने के लिए दूसरी घटना भी अपना पूर्ण सहयोग देती है।

रामधन और एस० एन० सिंह पर जब कविता का भूत सवार होता है तो उनके मुखों से अनायास ही काव्यमयी भाषा धारा प्रवाह रूप से प्रवाहित होने लगती है। इससे पाठकों का कुतूहल जाग्रत होता है और हास्य की अनुपम सृष्टि होती है। और कुतूहल का शमन अन्त में ही जाकर होता है। उपसंहार कहानी के प्रभाव में न्यूनता ला देता है। यदि कहानी के अन्त में उपसंहार न जोड़ा जाता तो कहानी की रोचकता और अधिक बढ़ जाती। कथोपकथन काफी सरस और रोचक हैं परन्तु उनकी सीमा इन्हीं गुणों तक है। वे न कथा-विकास में सहायक होते हैं और न चरित्रों का उद्घाटन करने में ही।

भाषा के दो रूप हैं—एक साधारण, सरल, सरस और कथात्मक रूप। दूसरा काव्यमय रूप। दोनों रूप एक-दूसरे से नितान्त भिन्न हैं और इसी भिन्नता में इस कहानी का सारा चमत्कार छिपा हुआ है। पौराणिक शैली इस रूपक का निर्वाह करने में पूर्ण समर्थ रही है। ऐसे रूपक पौराणिक शैली में अधिक निखरते और स्पष्ट होते हैं।

'अज्ञेय'

वर्तमान प्रयोगवाद के मसीहा, स्वयं अपनी नजर में सच्चे साम्यवादी, परन्तु समर्थक एवं विरोधी आलोचकों की नजरों में 'प्रतिभा पुत्र', 'अनारकिस्ट', 'घोर अहंवादी', 'अज्ञेय यातना का दर्शन प्रचारित करने वाले,' 'प्रच्छन्न हेतुवादी या नियति विश्वासी', 'साम्यवाद के कट्टर दुश्मन', 'पूँजीपतियों के टुकड़खोर', 'प्रगतिवादी विचारक' अज्ञेय –असली नाम सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन हिन्दी साहित्य के एक श्रेष्ठ एवं मँजे हुए कहानीकार माने जाते हैं। ये भारत के प्रसिद्ध पुरातत्व वेत्ता स्वर्गीय डा० हीरानन्द शास्त्री के सुपुत्र हैं। इसलिए कुछ समय तक गुजराती-परम्परानुसार अपने नाम सच्चिदानन्द के साथ अपने पिता हीरानन्द का उपयोग करते रहे परन्तु प्रसिद्धि के उच्चतम शिखर पर पहुँच जाने के बाद अब इन्होंने अपने नाम के साथ अपने पिता के नाम का उपयोग करने से मुँह मोड़ लिया है और अब सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन न रह कर केवल सच्चिदानन्द वात्स्यायन उर्फ अज्ञेय रह गए हैं। हिन्दी साहित्य में अपने दो नामों से जितना अधिक लाभ इन्होंने उठाया है उतना कदाचित् किसी भी अन्य लेखक ने नहीं उठा पाया होगा। हिन्दी-साहित्य पर सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन के नाम से एक विस्तृत सार गर्भित (?) निबन्ध लिखते हुए इन्होंने हिन्दी के लेखक 'अज्ञेय' को इस युग का सर्वश्रेष्ठ लेखक घोषित किया है। इस लेख से यह ध्वनि निकलती है कि आधुनिक हिन्दी-साहित्य का दूसरा नाम बिना किसी शंका या हिचक के साथ 'अज्ञेय-साहित्य' रखा जा सकता है।

अज्ञेय सम्बन्धी इतने परस्पर विरोधी मतों को देखकर यह कहा जा सकता

है कि अज्ञेय हिन्दी-साहित्य के एक ऐसे कलाकार हैं जो बहु-चर्चित, अमित प्रभाव और प्रसिद्धि के स्वामी और अत्यन्त सतर्क, जागरूक साहित्यकार हैं। उन्होंने अपनी शक्ति और प्रभाव से हिन्दी-संसार का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया है, प्रशंसा पाई है और गालियाँ भी सही हैं। ऐसे अज्ञेय एक बहु-विज्ञ अमित प्रतिभाशाली, घोर अध्ययनशील और जीवन-क्षेत्र के मँजे हुए अनुभवी कलाकार हैं। सैद्धान्तिक विरोध के कारण आप उनकी कटु आलोचना कर सकते हैं परन्तु उनकी कला, उनकी प्रतिभा तथा उनकी शक्ति का लोहा आपको मानना ही पड़ेगा। कहा जाता है कि आधुनिक हिन्दी-लेखकों में से शायद ही कोई ऐसा लेखक हो अज्ञेय के समान घोर, अनवरत अध्ययन करता हो। अज्ञेय अंग्रेजी और हिन्दी दोनों भाषाओं के लेखक हैं। अनेक प्रान्तीय भाषाओं, चित्रकला तथा अन्य अनेक प्रकार की छोटी-मोटी कलाओं का—उपयोगी तथा ललित-कलाओं का उन्हें ज्ञान है। वे भारत के अनेक प्रान्तों में अपने पिता के साथ रहे, अध्ययन किया, घूमे-फिरे, अंग्रेजी साहित्य में एम० ए० में दाखिला लिया और शिक्षा समाप्त होने से पूर्व ही क्रान्तिकारी आन्दोलन के सिलसिले में गिरफ्तार कर लिए गए, जेल काटी, अध्ययन किया और वहाँ से निकलकर पुनः साहित्य-साधना में जुट गए। द्वितीय महायुद्ध में सेना में भर्ती हुए, कप्तान बने, देश-विदेश घूमे और युद्ध समाप्त हो जाने पर पुनः साहित्य-साधना में संलग्न हो गए। फिर साम्राज्यवादी-सांस्कृतिक संगठन 'यूनेस्को' के सक्रिय सदस्य बने, उसी के खर्चे पर विदेशों का भ्रमण किया और आज भी दिल्ली में रहकर 'यूनेस्को' से घनिष्ठ सम्बन्ध बनाये हुए साम्यवाद के विरुद्ध प्रचार और विदेशी व्यक्तिवादी साहित्यिक विचारधाराओं का हिन्दी में प्रसार करते हुए साहित्य-साधना में जुटे हुए हैं। हिन्दी के प्रगतिशील विचारक इन्हें प्रतिक्रियावादी समझते हैं और प्रयोगवादी अमरीकी-भारतीय पूँजीपतियों का संरक्षण और सहायता प्राप्त करने का एकमात्र माध्यम।

अज्ञेय हिन्दी और अंग्रेजी दोनों भाषाओं के कवि, उपन्यासकार हैं। हिन्दी में अनेक कहानियाँ लिखी हैं, अनुवाद किए हैं, आलोचना लिखी हैं और हिन्दी और अंग्रेजी की अनेक पत्रिकाओं का सम्पादन कर चुके हैं और अब भी कर

रहे हैं। 'शेखर' : एक जीवनी' (दो भाग) तथा 'नदी के द्वीप' इनके दो प्रसिद्ध उपन्यास हैं। हिन्दी की प्रयोगवादी कविताओं के तीन सप्तकों का सम्पादन किया है और अपने लगभग पांच कहानी-संग्रह प्रकाशित कर चुके हैं जिनकी कहानियों ने इन्हें हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कहानीकारों की पँक्ति में आसीन करा दिया है। क्रमानुसार इनके कहानी-संग्रह इस प्रकार हैं—

१—विपथगा, २—कोठरी की बात, ३—परम्परा, ४—जयदोल, और ५—शरणार्थी।

इनकी पहली कहानी सन् १९२४ में 'सेवा' नामक पत्रिका में प्रकाशित हुई थी परन्तु उसके बाद कहानी-लेखन का क्रम टूट-सा गया और १९३० से अज्ञेय पुनः कहानी-क्षेत्र में उतरे और तब से अब तक बराबर लिखते चले आ रहे हैं। 'रोज' जैसी प्रसिद्ध कलात्मक कहानी की रचना इन्होंने बीस वर्ष की अवस्था में की थी। हिन्दी संसार में इनकी कहानियाँ प्रायः चर्चा का विषय बनती रही हैं। अपने नवीन दृष्टिकोण, विद्रोही विचारधारा एवं पाश्चात्य शिल्प-विधान की नवीनता के प्रदर्शन के द्वारा जैनेन्द्र के समान ये भी प्रेमचन्द की समाजवादी पद्धति से अलग हटकर अपनी कहानियों द्वारा एक नूतन पद्धति की सृष्टि कर रहे थे। जैनेन्द्र के समान इनका दृष्टिकोण भी व्यक्तिवादी है। ये विद्रोही अवश्य हैं परन्तु इनका विद्रोह समाजगत न होकर व्यक्तिगत ही रहा है। समाज की विषमताओं ने इन्हें आकर्षित किया है परन्तु ये उन विषमताओं के वास्तविक कारण की तह तक न पहुँचकर अन्य व्यक्तिवादी कहानीकारों के समान ऊपरी समस्याओं, कुंठाओं आदि के चित्रण तक ही सीमित रहे हैं। यद्यपि कहीं-कहीं इनकी कहानियों में समाज की विकृतियाँ, शोषण, अत्याचार आदि भी उभर कर ऊपर आ गए हैं।

अज्ञेय जीवन को एक अविराम संघर्ष मानते हैं जिसमें जैनेन्द्र के समान समझौता या संघर्ष में पराजित हो पलायन की भावना नहीं है। परन्तु इनका यह संघर्ष व्यक्तिवादी ही अधिक रहता है। सामाजिक या व्यक्तिगत मनोवैज्ञानिक गुत्थियों को सुलझाना ही उनकी कहानी-कला का प्रधान उद्देश्य रहता है। इसी कारण अज्ञेय को हिन्दी के मनोवैज्ञानिक कहानीकारों का अग्रणी माना जाता है। साथ ही रोमांटिक प्रवृत्ति का बाहुल्य रहने के कारण उनकी कहा-

नियों में सेक्स की मनोवैज्ञानिक गुत्थियाँ ही अधिक अंकित हुई हैं। इनकी कहानियों में राजनीति, समाज, प्रेम और कर्त्तव्य का द्वन्द्व, घृणा एवं विद्वेष का आधिक्य आदि सभी कुछ मिल जाता है और वह भी बड़े सशक्त एवं कलात्मक रूप में, परंतु उनका आधार सर्वत्र समाज न रह कर व्यक्ति ही रहता है। फिर भी अज्ञेय जैनेन्द्र के समान व्यक्ति के अन्तर्जगत का ही उद्घाटन करने में व्यस्त न रह कर समाज की आर्थिक विषमता, शोषित-दीन समाज, प्रेम और कर्त्तव्य आदि बाह्य समाज के रूपों की ओर भी आकर्षित होते हैं और अपने विशाल व्यावहारिक ज्ञान एवं तीव्र अनुभूति द्वारा बड़े करुण चित्र अङ्कित करते हैं।

अज्ञेय के सम्पूर्ण कहानी-साहित्य को स्थूल रूप से दो खंडों में विभक्त किया जा सकता है। एक में संवेदनात्मक और हल्के रोमान्स से रंगी भावनाओं का चित्रण हुआ है; जैसे—'अमर बल्लरी', सिगनेलर', 'मैना', 'रेल की सीटी' आदि कहानियों में हुआ है। दूसरे प्रकार की कहानियाँ वे हैं जिनमें क्रान्तिकारी-विद्रोही कहानीकार अज्ञेय वर्तमान समाज एवं सभ्यता की विषमताओं पर अपने सशक्त, निखरे हुए व्यंग्य और उपहास द्वारा निर्मम आघात करते हैं; जैसे—'सभ्यता का एक दिन', 'राधा का नाच', 'नम्बर दस', 'कोठरी की बात', 'नयी कहानी का प्लाट' आदि कहानियों में किया गया है। परन्तु 'रोज' जैसी कहानियों में ये दोनों ही प्रवृत्तियाँ एक साथ मिल जाती हैं। प्रेम और कर्त्तव्य का द्वन्द्व इनकी लगभग सभी कहानियों में मिल जाता है। नारी के प्रति अज्ञेय का आकर्षण पूर्ण स्वाभाविक रहा है। व्यक्तिवादी लेखक सदैव नारी को ही अपनी करुणा का लक्ष्य बना कर चलते हैं। जैनेन्द्र, अज्ञेय आदि इसी प्रकार के कहानीकार रहे हैं। ये लोग नारी को एक अद्भुत प्राणी मान कर, उसके महत्व को सामाजिक परिप्रेक्ष्य में न देखकर केवल व्यक्तिगत भावुकता के ही रूप में अधिक देखते हैं। इस कारण इनके साहित्य में नारी का अत्यन्त सुन्दर, करुण और मोहक रूप चित्रित होता है। प्रेम और कर्त्तव्य का संघर्ष अज्ञेय की कोई नई देन नहीं मानी जा सकती। प्रसाद अपनी कहानियों में इस संघर्ष का चित्रण पहले ही कर चुके थे।

जैनेन्द्र के समान अज्ञेय भी इस बात की चिन्ता अधिक करते हैं कि—

'क्या कहना है' न कि इस बात की कि—'कैसे कहना है' । उन्होंने अपनी प्रत्येक कहानी में एक मूल संवेदना या अनुभूति को लिया है और अन्त तक उसी का चित्रण करते चले गए हैं । और इस कार्य में अपरोक्ष रूप से विभिन्न शिल्प-विधानों का स्वतः ही समावेश होता चला गया है । फलस्वरूप अज्ञेय की कहानियों में कहानी के शिल्प-विधान के इतने विभिन्न रूप मिलते हैं जितने आधुनिक अन्य किसी भी कहानीकार में नहीं मिलते । अज्ञेय विशुद्ध मनोवैज्ञानिक कहानीकार हैं । उनकी प्रत्येक कहानी का मूल धरातल व्यक्ति-चरित्र है । वे अपनी कहानियों में व्यक्ति के किसी एक पहलू का मनोवैज्ञानिक चित्रण करते हैं । इसी कारण इनकी लगभग सम्पूर्ण कहानियाँ चरित्र-प्रधान हैं। उनमें घटनाओं की प्रधानता कहीं भी नहीं मिलती । घटनायें सर्वत्र व्यक्ति के चरित्र का ही उत्कर्ष दिखाने में सहायक रहती हैं । यही कारण है कि इनकी कहानियों में कथानक अत्यन्त सूक्ष्म और संक्षिप्त रहता है ।

डा० लक्ष्मी नारायण लाल ने अज्ञेय की समस्त कहानियों को चार भागों में विभाजित किया है— १—सोद्देश्य सामाजिक आलोचना सम्बन्धी, २—राजनीतिक बन्दी जीवन सम्बन्धी, ३—चरित्र-विश्लेषण सम्बन्धी, तथा ४—प्रतीकों के सहारे मानसिक संघर्षों के अध्ययन सम्बन्धी । कहानियों के उक्त चारों धरातलों के अनुरूप ही उनके कथानक-विधान में भी स्पष्ट अन्तर दिखाई पड़ता है । पहले प्रकार की कहानियों में स्पष्ट इतिवृत्त के साथ एक सुनिश्चित कथानक रहता है; जैसे—'रोज', 'सभ्यता का एक दिन', 'शरणागत', 'कवि प्रिया' आदि कहानियों में दिखाई पड़ता है । इनमें चरित्र अपने माध्यम से कथानक का निर्माण करते हैं और घटनायें, कार्य-विधान आदि इसे सुनिश्चित रूप देते हैं । राजनीति तथा बन्दी जीवन की कहानियों में उपर्युक्त दोनों उपकरण मिल कर कथानक को और भी सुदृढ़, गठित और व्यापक रूप प्रदान कर देते हैं । 'पेगोडा', 'छाया' आदि इसी प्रकार की कहानियाँ हैं । इनमें कथानक के केन्द्रैक्य में अद्भुत गम्भीरता रहती है । चरित्र-विश्लेषण प्रधान कहानियों में एक सीधे-सादे कथानक के आधार पर पात्रों की मनः स्थिति आदि का विश्लेषण हुआ है । प्रतीकों के सहारे मानसिक संघर्षों के चित्र की कहानियों में आत्म-चिन्तन तथा अनेक स्फुट संवेदनाओं तथा छोटी-छोटी घटनाओं

द्वारा सूक्ष्म कथानक का निर्माण होता है जैसे—'पठार का धीरज', 'सिगनेलर', 'नम्बर दस' आदि में हुआ है। समष्टि रूप से कथा-विधान की इस अनेकरूपता में कहीं-कहीं इतनी जटिलता और दुरूहता आ गई है जो कहानी के सम्पूर्ण प्रभाव को नष्ट कर देती है।

चरित्र-चित्रण के क्षेत्र में अज्ञेय विशुद्ध मनोवैज्ञानिक पद्धति के कलकार होने के कारण घोर व्यक्तिवादी बन गए हैं। इनकी सम्पूर्ण कहानी-कला का केन्द्र-बिन्दु ही व्यक्ति का चरित्र रहा है। चरित्र अवतारणा, चरित्र-विश्लेषण, चरित्र-मनोविज्ञान ही इनकी कला की आधार शिलायें हैं। इसी कारण इन्होंने सम्पूर्ण समस्याओं का अध्ययन एवं चित्रण व्यक्तिगत पहलुओं से किया है। इसका परिणाम यह हुआ है कि जैनेन्द्र के चरित्रों के ही समान इनके चरित्र साधारण न रह कर प्राय. विशिष्ट बन जाते हैं। इन चरित्रों में 'अहं' का .अत्यन्त तीव्र रूप दिखाई पड़ता है क्योंकि अज्ञेय स्वयं एक बहुत बड़े अहंवादी हैं। इसलिए इनके सारे अहंवादी चरित्र अहंवादी अज्ञेय के ही विभिन्न रूप प्रतीत होते हैं, भले ही उनमें बाह्य भिन्नता दिखाई पड़ती हो। परन्तु अज्ञेय का यह 'अहंवाद' 'मानवतावाद' को ही अपने भीतर समेट कर चलता है और समस्त कहानी पर प्रारम्भ से अन्त तक छाया रहता है।

अज्ञेय की कुछ सर्वश्रेष्ठ कहानियों में ऐसे चरित्रों की अवतारणा हुई है जो स्वभाव से विद्रोही हैं। वे सामाजिक, राजनीतिक तथा व्यक्तिगत प्रश्नों और मूल्यों को लेकर विद्रोह करते हैं। कुछ चरित्रों में यह विद्रोह सामूहिक रूप में मिलता है तथा कुछ में केवल एक ही पहलू को लेकर; जैसे—'रोज' की मालती का अपने एकाकी, नीरस जीवन के प्रति विद्रोह। इन कहानियों के नारी और पुरुष दोनों ही प्रकार के पात्र शोषित और विद्रोही हैं। सभी कर्म-प्रधान हैं और संघर्ष को आमंत्रित करते रहते हैं। वे सदैव कठिनाइयों को ही अपनाते हैं।

अज्ञेय द्वारा निर्मित चरित्रों में ऐसे चरित्रों की संख्या सबसे अधिक है जिनमें विश्लेषण की प्रधानता है। यह विश्लेषण कई प्रकार से हुआ है, जैसे—"मनोविश्लेषण, आत्म-विश्लेषण तथा संकेतों एवं सूक्ष्म हाव-भावों के सहारे मनुष्य की कर्म-प्रेरणाओं और मनः स्थितियों का अध्ययन।" इन सभी

में मनोविश्लेषण की ही प्रधानता रहती है। अज्ञेय ने फ्रॉयड के स्वप्न-सिद्धान्त इच्छा-पूर्त्ति, उदात्तीकरण, प्रोक्षेपण, चेतन, स्वल्प-चेतन तथा अचेतन आदि के सहारे अनेक पात्रों के अन्तर्रहस्यों का उद्घाटन किया है। इस दृष्टि से हिन्दी में अज्ञेय ही प्रथम विशुद्ध फ्रॉयडवादी कहानी-लेखक माने जा सकते हैं। इनका मूलाधार फ्रॉयड का मनोविज्ञान ही रहा है। इसका परिणाम यह निकला है कि इनके पात्र साधारण न रह कर विशिष्ट बन गए हैं। इसी कारण अज्ञेय की कहानियाँ जागरूक प्रबुद्ध पाठक को तो आकर्षित करती हैं साधारण पाठक उनमें रम नहीं पाता। सम्भवतः जैनेन्द्र, अज्ञेय आदि कहानीकारों की इसी विशिष्टता को लक्ष्य कर आलोचकों की यह धारणा बनी है कि आज का मनोविज्ञान पर आधारित कथा-साहित्य जन-जीवन की उपेक्षा कर समाज से अलग हटता चला जा रहा है। इस दृष्टि से इस प्रकार के अलगाववादी कथा-साहित्य की सामाजिक उपयोगिता नष्ट-सी होती जा रही है। साहित्य वही कल्याणकारी होता है जो समाज को चेतना दे सके, उसे अपनी वास्तविक स्थिति का ज्ञान करा सके। इस प्रकार के साहित्य की यही रीतिकालीन साहित्य जैसी प्रवृत्ति, उसे प्रगतिशील पाठकों एवं आलोचकों की दृष्टि में ग्रहणीय नहीं बनने देती। इसी कारण सतत जागरूक आलोचकों ने जैनेन्द्र, अज्ञेय आदि की इस प्रवृत्ति का विरोध किया है।

प्रो० वासुदेव के अनुसार—"अज्ञेय की कहानी-कला की सबसे बड़ी विजय है संकलन त्रय (Three Unities) का सफल निर्वाह।" अज्ञेय ने अपनी समस्त कहानियों में समय, स्थान और प्रभाव की एकता का पूर्ण ध्यान रखा है। इसके द्वारा अज्ञेय की कहानियों में जो संघटन, जो संवेदना की घनता आ गयी है, वह हिन्दी में केवल जैनेन्द्र आदि में ही मिलती है। अज्ञेय की एक अन्य उल्लेखनीय विशेषता यह है कि वह नारी और पुरुष दोनों ही के "बाह्य और आन्तरिक व्यक्तित्वों की मूर्त्त तस्वीर खींचने में" अत्यन्त कुशल हैं। वे थोड़े से ही शब्दों में अनेक भावों की व्यजना कर एक जीता-जागता सा चित्र खींच देते हैं।

वातावरण का अत्यन्त प्रभावशाली चित्रण करने में अज्ञेय निपुण हैं। वातावरण के द्वारा वे सर्वत्र अमित प्रभाव की सृष्टि करने में भी सफल रहते

हैं। उन्होंने कई उच्च कोटि की वातावरण तथा प्रभाव-प्रधान कहानियाँ लिखी हैं। कथोपकथन के क्षेत्र में भी उन्हें एक सिद्धहस्त कलाकार माना जा सकता है। उनके कथोपकथन मार्मिक, गम्भीर, सारगर्भित, संक्षिप्त, चरित्र के उद्घाटक तथा नाटकीयता की सृष्टि करने वाले होते हैं।

कहानी की शैली की दृष्टि से इन्होंने अनेक प्रकार की शैलियों को अपनाया; है जैसे—ऐतिहासिक, आत्म-कथात्मक, नाटकीय, पत्रात्मक, प्रतीकात्मक तथा मिश्रित आदि विभिन्न प्रकार की शैलियों का प्रयोग इनकी कहानियों में दिखाई पड़ता है। इतनी विभिन्न प्रकार की शैलियों को अपनाने का कारण शायद यह रहा है कि अज्ञेय को अलग-अलग चरित्रों, व्यक्तियों आदि के अध्ययन के लिए उन्हीं के अनुरूप कहानी-निर्माण की शैलियाँ अपनानी पड़ी हैं। अन्य शैलियों की अपेक्षा प्रतीकात्मक शैली का सफल निर्वाह करना अधिक कठिन होता है। परन्तु अज्ञेय ने 'चिड़िया घर', 'पुरुष का भाग्य', 'साँप' आदि प्रतीकात्मक कहानियों में कहानी के भाव-पक्ष से पूर्ण स्वाभाविकता और वैज्ञानिकता स्थापित कर अपने प्रतीकों में पूर्ण विविधता तथा आकर्षण उत्पन्न कर दिया है। ये सब प्रतीक मानव के विभिन्न मानसिक संघर्षों के साथ पूर्ण तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं। समष्टि रूप से शैली के सामान्य पक्ष में अर्थात् कथोपकथन, वर्णन, चित्रण आदि सभी में अज्ञेय को अद्भुत सफलता मिली है।

भाषा के क्षेत्र में भी अज्ञेय को अप्रत्याशित सफलता प्राप्त हुई है। इनकी भाषा-शैली में "सर्वत्र आश्चर्य जनक संयम, गम्भीरता, चयन और परिष्कार मिलता है। यही कारण है कि इनकी भाषा अमूर्त्त से अमूर्त्त मनोद्गारों, घात-प्रतिघातों और मानसिक द्वन्द्वों की अभिव्यक्ति में सदैव सफल रही है।"

—(डा० लक्ष्मी नारायण लाल)

अज्ञेय का गद्य अंग्रेजी गद्य के गठन एवं सौष्ठव का ध्यान दिला देता है। उनकी शैली पर अंग्रेजी गद्य का बहुत गहरा प्रभाव है। वाक्य-विन्यास, शब्द-चयन, गठन आदि सभी पर अंग्रेजी का प्रभाव स्पष्टतः लक्षित होता है परन्तु इस प्रभाव ने अज्ञेय की हिन्दी में एक ऐसा लचीलापन, स्वच्छन्दता एवं प्रवाह की सृष्टि कर दी है जिसने हिन्दी गद्य को एक सर्वथा नवीन रूप प्रदान

किया है। इसे हिन्दी गद्य का आधुनिकतम रूप माना जा सकता है। शब्द-संयम और शब्दों को नए-नए अर्थों में प्रयुक्त करने में अज्ञेय अद्वितीय हैं।

इनकी शैली का एक प्रधान आकर्षण इनके व्यंग्यों की तीक्ष्णता भी है। इनके व्यंग्य बड़े मार्मिक होते हैं। अज्ञेय ने व्यंग्योक्तियों द्वारा वर्तमान सभ्यता के वैषम्य पर प्रायः बड़े निर्मम प्रहार किए हैं। इस प्रहार में अज्ञेय का सामाजिक विद्रोह स्पष्ट लक्षित होता है। 'रोज' में लेखक एक स्थान पर लिखता है—"पति ढाई बजे खाना खाते हैं, इसलिए पत्नी तीन बजे तक भूखी बैठी रहती है।" इस वाक्य में हिन्दू पत्नी की निरीहता का कैसा व्यंग्यपूर्ण सजीव चित्र खिच गया है, इसे सहृदय पाठक भली-भाँति समझ सकते हैं।

अज्ञेय की कहानी-कला की एक विशेषता और है जो उनके प्रति सजग एवं जागरूक पाठक का ध्यान आकर्षित करती है और वह है उनकी कहानी का अधूरापन। अज्ञेय कहानी को 'जीवन की अधूरी कहानी' मानते हैं। वे किसी भी समस्या को उठाकर अन्त में उसका कोई भी समाधान प्रस्तुत न कर उसे अधूरा ही छोड़ देते हैं। इनके पात्र किन्हीं अज्ञात मनोभावों के भँवर में डूबते-उतराते रहते हैं और किसी भी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच पाते। इसी कारण इनकी कहानियाँ न तो सुखान्त होती हैं और दुखान्त ही। वे अन्त में केवल प्रश्नान्तक बन कर ही रह जाती हैं। पाठक की जिस जिज्ञासा अथवा उत्कंठा को लेखक कहानी के प्रारम्भ में उभार देता है वह कहानी का अन्त हो जाने पर भी वैसी-की-वैसी ही बनी रहती है। उसका शमन नहीं हो पाता। अज्ञेय 'संघर्ष को कला की जननी' मानते हैं इसलिए उनके पात्रों का संघर्ष कभी समाप्त ही नहीं हो पाता।

अज्ञेय की कहानी-कला के निर्माण में लक्ष्य और अनुभूति दोनों का समान महत्व रहता है। अज्ञेय कहानी के निर्माण में अनुभूति को सर्वोच्च स्थान देते हैं। इनकी अनुभूति को प्रेरणा प्रत्यक्ष और अपूर्व वेग से व्यंजित होती है और लक्ष्य अप्रत्यक्ष रूप से ध्वनित होता है। इसी कारण अज्ञेय की कहानियों में एकान्त प्रभाव डालने की अपूर्व क्षमता है। कुल मिलाकर अज्ञेय की कहानियों में शिल्प-विधि के तो बड़े उत्कृष्ट रूप मिलते हैं परन्तु भाव पक्ष

शिल्प की तुलना में कुछ निर्बल-सा प्रतीत होता है, भावपक्ष में न तो विविधता ही है और न भावगत मौलिकता ही । परन्तु इस कमी को अज्ञेय देश-काल और परिस्थिति के व्यापक और विस्तृत चित्रण द्वारा बहुत कुछ दूर कर देते हैं । यही उनकी सफलता का रहस्य है ।

जैनेन्द्र

अभी कुछ दिन हुए हमारे कुछ मित्र (डा० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, प्रो० रामगोपाल सिंह चौहान, प्रो० देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र' आदि) बैठे वर्तमान कहानी की एक सर्वमान्य परिभाषा निश्चित करने का प्रयत्न कर रहे थे। एकाएक चौहान बोले कि हिन्दी के आधुनिक कहानीकारों की कहानियों को किसी एक निश्चित परिभाषा में बांधना बड़ा दुष्कर कार्य है। उदाहरण के लिए जैनेन्द्र की कहानियों को लिया जा सकता है। शिल्प की दृष्टि से उनकी प्रत्येक कहानी उनकी दूसरी कहानी से भिन्न प्रतीत होती है। ऐसी स्थिति में कहानी की एक सर्वमान्य परिभाषा कैसे निर्धारित की जा सकती है? चौहान की यह शंका साधार थी। जैनेन्द्र जैसे कहानीकारों ने हिन्दी कहानी को ही नहीं बल्कि हिन्दी कथा-साहित्य को एक ऐसे मोड़ पर लाकर खड़ा कर दिया है जहाँ उसकी सम्पूर्ण पूर्व मान्यताएँ उसका मूल्यांकन करने में असमर्थ-सी हो उठी हैं। इन लोगों ने कथा-साहित्य में एक नए युग का आरम्भ किया था जो अपने पूर्ववर्ती युग—प्रेमचन्द युग—से सर्वथा भिन्न था। जैनेन्द्र की पहली कहानी 'हत्या' सन् १९२७ में प्रकाशित हुई थी परन्तु उनको प्रसिद्धि मिली प्रेमचन्द के उपरान्त ही। यद्यपि इस पहली कहानी ने ही हिन्दी-साहित्य का ध्यान जैनेन्द्र की ओर आकर्षित कर दिया था।

प्रेमचन्द के उपरांत हिन्दी-कथा-साहित्य ने अपने संक्रान्ति-युग में प्रवेश किया था। और हिन्दी-कथा-साहित्य में इस संक्रान्ति-युग को लाने का सर्वाधिक श्रेय जैनेन्द्र को ही दिया जा सकता है। जैनेन्द्र की लोकप्रियता बड़ी तीव्र गति से बढ़ी और जैनेन्द्र अपनी नई विचारधारा, नवीन दृष्टिकोण तथा नूतन शिल्प-

विधान के कारण हिन्दी-आलोचकों के लिए एक समस्या बन गए। समाजवादी आलोचकों ने उनका विरोध किया, आदर्शवादी आलोचक उनकी अनैतिकता से खीझ उठे और व्यक्तिवादी आलोचकों ने उन्हें नए युग का मसीहा घोषित कर दिया। साहित्यिक-जगत में ऐसी हलचल मचा देने वाले जैनेन्द्र हिन्दी के एक अद्‌भुत कथा-शिल्पी माने जाते हैं। उनके विचार एवं दृष्टिकोण से भिन्नता रखते हुए भी उनके चमत्कार पूर्ण शिल्प-विधान एवं अनुभूति की गहनता को देख बरबस उनकी प्रशंसा करनी पड़ती है। उनमें सूक्ष्मता है, अद्‌भुत कौशल है, निरीह सरलता है, दार्शनिक उलझनें भी हैं, समाज से अलगाव के साथ-साथ एक विचित्र मानवीय संवेदना भी है। ये सारी विशेषताएं उनके प्रति पाठक को आकर्षित भी करती हैं और पाठक कभी-कभी क्षोभ से भी भर उठता है। उनकी कला में अपनी ओर आकर्षित करने की एक अद्‌भुत क्षमता है और पाठक न चाहते हुए भी बरबस उनकी प्रशंसा कर उठता है।

जैनेन्द्र के इस अद्‌भुत साहित्यिक-व्यक्तित्व का रहस्य उनके उस व्यक्तित्व में छिपा हुआ है जिसमें श्रद्धा और तर्क का स्वस्थ सम्मिश्रण है, इस परन्तु श्रद्धा और तर्क में 'प्रसाद' का सा सन्तुलन न रहकर एक विचित्र असन्तुलन आ जाता है जो जैनेन्द्र को अस्पष्ट, विचित्र और उलझन से परिपूर्ण बना देता है। यही जैनेन्द्र की सफलता का रहस्य है और यही उनकी असफलता का भी।

जैनेन्द्र महात्मा गान्धी द्वारा संचालित असहयोग आन्दोलन में अपनी पढ़ाई छोड़कर जेल गए। जेल में रह कर उन्होंने अध्ययन किया और इस अध्ययन के फलस्वरूप वह साहित्य सृजन की ओर उन्मुख हुए। संस्कारों एवं विश्वास से जैन मतावलम्बी होने के कारण वे अहिंसावादी बने। महात्मा गान्धी की अहिंसा ने उन्हें इसी कारण अपनी ओर अधिक आकर्षित किया और वे गांधीवादी बन गए। बुद्ध की करुणा का भी उन पर गहरा प्रभाव है। समष्टि रूप से जैनेन्द्र को गाँधीवादी माना जासकता है और एक ऐसा गाँधीवादी जो अपने कथा-साहित्य द्वारा अहिंसा, मानव-प्रेम, सर्वोदय की भावना आदि का प्रचार करते हुए भी गाँधीवाद की उस चारित्रिक दृढ़ता, उदारता एवं शक्ति के रहस्य को नहीं समझ पाया है जो गाँधी-दर्शन का मूलाधार है। इसी कारण

जैनेन्द्र-साहित्य में अकर्मण्य गाँधीवाद का ही चित्रण हो सका है। गाँधीवाद का वास्तविक रूप उसमें नहीं मिलता। जैनेन्द्र के प्रधान पात्र प्रायः अकर्मण्य, अपनी व्यक्तिगत कुंठाओं से ग्रस्त और पलायनवादी हैं। जैनेन्द्र हिंसा का विरोध दिखाने के लिए अपने उपन्यासों में खल-नायक के रूप में किसी-न-किसी क्रान्तिकारी को रखते हैं और अन्त में उसका पराभाव दिखा देते हैं।

जैनेन्द्र की आस्तिकता भी उनकी इस उलझन का एक प्रधान कारण है। वे घटना को कार्य और भावना को उसका कारण मान कर चलते हैं। उनकी ज्ञान-पिपासा इस कार्य-कारण की शृंखला में संगति की खोज करती है और उसे पकड़ नहीं पाती। कार्य-कारण का भेद समझ में न आने पर वे अन्तिम निर्णायक या नियन्ता ईश्वर को स्वीकार कर दार्शनिकता के रहस्यजाल में डूब जाते हैं और अपने पाठकों को भी उसी भ्रमजाल में भटकता छोड़ देते हैं। यही उलझन उनके साहित्य को अस्पष्ट बना देती है। श्रद्धा उन्हें भावुक बनाती है और तर्क उनकी इस भावुकता का हनन करता रहता है। श्रद्धा और तर्क के इस द्वन्द्व में सन्तुलन नहीं रह पाता और इसका परिणाम यह होता है कि पाठक उलझन में पड़ जाता है, उसके सम्मुख सदैव एक प्रश्न-चिह्न सा आ खड़ा होता है जिसका समाधान उसे नहीं मिल पाता क्योंकि स्वयं जैनेन्द्र भी उसे नहीं जानते। जैनेन्द्र-साहित्य की यही उलझन उसे समष्टि रूप से अग्राह्य बनाते हुए भी उसमें एक विचित्र आकर्षण पैदा कर देती है।

जैनेन्द्र प्रेमचन्द के उपरान्त हिन्दी-साहित्य में आगे बढ़े थे। प्रेमचन्द और जैनेन्द्र में मौलिक अंतर था। प्रेमचंद में जीवन के प्रति एक गहन आस्था और विश्वास था। वे व्यक्ति और उसके जीवन को सामाजिक संदर्भ में रख कर देखने के विश्वासी थे। परन्तु जैनेन्द्र बाह्य की—समाज की—उपेक्षा कर व्यक्ति को उसके अन्तर में ही देखना चाहते हैं। उनकी दृष्टि में बाहरी घटनायें यदि विचारणीय हैं तो इसलिए कि वे कुछ भीतर की प्रतीक हैं। इसलिए इस 'भीतरी की अपेक्षा में ही बाहर को समझा जा सकता है।' इस 'भीतरी' का अन्वेषण करने में ही वे बाहरी से उसका अन्योन्याश्रित सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सके हैं। 'भीतरी' के इस प्रबल मोह ने ही उन्हें व्यक्तिवादी, तर्क प्रधान और अनिर्दिष्ट बना दिया है। लेखक की जीवनानुभूति ही उसके

उत्कर्ष की विधायक होती है। प्रेमचन्द की यह जीवनानुभूति जैनेन्द्र की तुलना में अधिक व्यापक, अधिक गहन तथा अधिक सामाजिक है। इसी कारण वह सामाजिक विकास की ओर निरन्तर संलग्न रही थी। प्रेमचन्द मनोवैज्ञानिक स्वास्थ्य-अस्वास्थ्य का प्रश्न न उठाकर जीवन के प्रश्नों और समस्याओं का प्रश्न उठाते हैं। उनका साहित्य बहिर्मुखी साहित्य है इसी कारण समाज को केन्द्र मानकर चलता है। इसके विपरीत—"जैनेन्द्र की साहित्य-सृष्टि व्यक्ति-मुखी है। उनका सम्बन्ध जीवन के व्यापक स्वरूपों से कम ही है। वे वैयक्तिक मनोभावों और स्थितियों के चित्रकार हैं।...वे सामाजिक जीवन के वास्तविक प्रवाह से दूर जाकर 'आध्यात्मिक' सूक्ष्म तंत्रों को चित्रित करने का लक्ष्य रखते हैं। परन्तु इस आध्यात्मिक चित्रण में उनकी मनःस्थिति पूर्णतः स्वस्थ और तटस्थ नहीं दिखाई देती। जैनेन्द्र सामाजिक जीवन से दूर जाकर जिस साहित्य की सृष्टि करते हैं, उसमें व्यक्ति के मानसिक संघर्ष और उसकी परिस्थिति-जन्य समस्यायें प्रमुख रूप से आती है। परन्तु उनका निरूपण करने में लेखक का दृष्टिकोण स्वस्थ और स्पष्ट नहीं है।" —(नन्द दुलारे वाजपेयी)

जैनेन्द्र गांधीवाद होते हुए भी सामाजिक मूल्यों की अवमानना कर स्वतंत्र और वैयक्तिक मनःतर्कवाद का निरूपण करते हैं। उनकी दृष्टि में नैतिक मूल्यों का कोई मूल्य नहीं हैं। वे समस्त सामाजिक व्यवहारों पर एक प्रश्न चिह्न लगाकर दूर हट जाते हैं। उनके नारी-पात्र सामाजिक आचारों का उल्लंघन कर भी सदैव उदात्त और एक अद्‌भुत गरिमा से मंडित रहते हैं। जैनेन्द्र की श्रद्धाजनित भावुकता नारी को एक तरफ तो सामाजिक आचारों के प्रति उच्छ्रंखल बना देती है और दूसरी ओर उसे अद्‌भुत देवी का सा रूप प्रदान कर देती है जो सामाजिक परिप्रेक्ष्य में बिल्कुल भिन्न, विचित्र और कटी हुई सी प्रतीत होती है। गांधी जी अपने दार्शनिक सिद्धान्तों में जितने बड़े आध्यात्मवादी और आदर्शवादी थे! वहाँ अपने सामाजिक मन्तव्यों में उतने ही कठोर, साधना-प्रिय, नीतिवादी और व्यावहारिक थे। इस क्षेत्र में भावुकता उन्हें स्पर्श तक नहीं कर पाती थी। परन्तु जैनेन्द्र इस व्यावहारिकता से कोसों दूर हैं। वाजपेयी जी के शब्दों में—"रचना के क्षेत्र में जैनेन्द्र न तो गांधीवादी हैं और न आदर्शवादी। वे एकान्तिक, भावुक और कल्पना जीवी लेखक हैं जो

वास्तविकता के प्रकाश में धूमिल दिखाई देते हैं।" प्रेमचन्द की स्थिति जैनेन्द्र से नितान्त भिन्न है। वे व्यावहारिक, यथार्थवादी लेखक हैं जो वास्तविकता के प्रकाश में और भी अधिक निखर उठते हैं।

कहा जाता है कि जैनेन्द्र मनोवैज्ञानिक कथाकार हैं। मनोवैज्ञानिक शब्द से प्रायः फ्रॉयड के मनोविश्लेषण का अर्थ ग्रहण किया जाता है। अज्ञेय आदि फ्रॉयडवादी लेखक हैं। परन्तु जैनेन्द्र की स्थिति इनसे भिन्न है। एक बार जैनेन्द्र से जब फ्रॉयड के इस प्रभाव के विषय में पूछा गया तो उन्होंने कहा कि मैंने तो फ्रॉयड को पढ़ा तक नहीं। और यह सत्य भी है। जैनेन्द्र दार्शनिक हैं जो पढ़ते कम और चिन्तन अधिक करते हैं। जैनेन्द्र का मनोवैज्ञानिक चित्रण उनके अपने चिन्तन का प्रतिफलन है, इसी कारण उनके इस चित्रण में अज्ञेय आदि की भाँति फ्रॉयड के सिद्धान्तों का पिष्टपेषण नहीं मिलता। परन्तु साथ ही इस बात से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि जैनेन्द्र के चित्रण में उन मानवीय कुंठाओं का बड़ा गहरा प्रभाव रहता है जो फ्रॉयड के सिद्धान्तों की मूलाधार रही हैं। यहाँ केवल पद्धति का अन्तर है। प्रत्येक अन्तर्मुखी एवं व्यक्तिवादी मनुष्य मूल रूप में उन्हीं कुंठाओं से पीड़ित रहता है जिन पर फ्रॉयड ने बहुत अधिक बल दिया है। जैनेन्द्र ऐसे ही अन्तर्मुखी कलाकार हैं जिन्होंने दार्शनिकता का लबादा डालकर इन कुंठाओं के मूल रूपों को परिवर्तित करने का प्रयत्न किया है।

जैनेन्द्र अपनी प्रारम्भिक कहानियों में दार्शनिकता को लेकर आए थे जिसकी बड़ी आलोचना हुई थी। मनोविज्ञान का प्रभाव उनकी बाद की कहानियों पर बढ़ता चला गया था। उनकी दार्शनिकता मानव के उस अलौकिक का विवेचन करती है जो सर्वव्यापी है। उन्होंने दर्शन-सम्बन्धी अपने दृष्टिकोण को इस प्रकार स्पष्ट किया था—

"मैं किसी ऐसे व्यक्ति को नहीं जानता जो मात्र लौकिक हो, जो सम्पूर्णता से शारीरिक धरातल पर ही रहता हो। सबके भीतर हृदय है, जो सपने देखता है। सब के भीतर आत्मा है, जो जगती रहती है, जिसे शस्त्र छूता नहीं, आग जलाती नहीं। सब के भीतर वह है जो अलौकिक है। मैं वह स्थल नहीं जानता जहाँ 'अलौकिक' न हो। कहाँ वह 'कण' है, जहाँ परमात्मा का

निवास नहीं है ? इसलिए आलोचक से मैं कहता हूँ कि जो अलौकिक है, वह भी कहानी तुम्हारी ही है, तुमसे अलग नहीं है। रोज के जीवन में काम आने वाली तुम्हारी जानी-पहचानी चीजों का और व्यक्तियों का हवाला नहीं है तो क्या, उन कहानियों में तो वह अलौकिक है, जो तुम्हारे भीतर अधिक तहों में बैठा है। जो और भी घनिष्ठ और नित्य रूप में तुम्हारा अपना है।" समझ में नहीं आता कि यह 'अलौकिक' क्या बला है ? फ्रॉयड की कुंठायें हैं, जीवन से पलायन है, अकर्मण्यता है या जैनेन्द्र का कल्पित रहस्य-जाल है जो वास्तविकता को छिपाकर अवास्तविकता का अस्पष्ट, दुरूह, उलझा हुआ परन्तु कला के सौन्दर्य से मंडित रूप दिखाया करता है।

जैनेन्द्र के सम्पूर्ण कथा साहित्य में, विशेष रूप से उनकी कहानियों में इसी दार्शनिकता और मनोविज्ञान का प्रभाव प्रारम्भ से अन्त तक दिखाई पड़ता है। अब तक उनकी दर्जनों कहानियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं जो निम्नलिखित दस संग्रहों में प्रकाशित हुई हैं—

१—वातायन, २—नीलमदेश की राजकन्या, ३—दो चिड़ियाँ, ४—स्पर्द्धा, ५—ध्रुवयात्रा, ६—पाजेब, ७—एक दिन, ८—एक रात, ९—फाँसी, तथा १०—जय सन्धि। इन संग्रहों में अनेक उच्चकोटि की कहानियाँ संग्रहीत हैं जो हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ कहानियों में स्थान पाने की अधिकारिणी हैं। जैनेन्द्र व्यक्तिवादी कहानीकार हैं परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उनकी कहानियाँ निम्न-स्तर की हैं। जब हम लेखक के दृष्टिकोण विशेष के प्रति अपने विरोध को भुलाकर विशुद्ध कला की दृष्टि से उसका मूल्यांकन करने का प्रयत्न करते हैं तो हमें उस लेखक विशेष के साहित्य में भी सौन्दर्य मिलता है, आकर्षण, कला और प्रभाव मिलता है और हम क्षण भर के लिए अपनी सामाजिक मान्यताओं तथा मत-विरोधों को भूल जाते हैं। और ऐसी स्थिति वही लेखक उत्पन्न कर सकता है जिसमें अनुभूति की गहराई और चित्रण की अद्भुत क्षमता होती है। जैनेन्द्र भी हिन्दी के ऐसे ही कहानीकार हैं जिनको दार्शनिकता से हमें चिढ़ पैदा होती है, सामाजिक तटस्थता विरक्ति पैदा करती है परन्तु कला अपनी ओर खींचती है।

अतः प्रेमचन्द के उपरान्त जैनेन्द्र हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कहानीकारों में स्थान

पाने के अधिकारी माने जाते हैं। उनके सम्पूर्ण कहानी-साहित्य को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। पहले भाग में उनकी वे प्रारम्भिक कहानियाँ आती हैं जिन पर दार्शनिकता का गहरा रंग है। दूसरे भाग में उनकी उन कहानियों को रखा जा सकता है जिन पर मनोविज्ञान का प्रभाव अधिक गहरा है।

दार्शनिक कहानियों की संवेदना संस्कृत आख्यान, आख्यायिका, पौराणिक कथा और कल्पना पर निर्मित हुई हैं। इनमें धर्म, नीति, शिक्षा और आदर्श की प्रतिष्ठा हुई है। इनमें कथा, वार्त्ता और दृष्टान्त के तत्व अधिक आजाने से इन कहानियों का शिल्प साधारण कहानियों के शिल्प से कुछ भिन्न होगया है। इन कहानियों में जैनेन्द्र ने कहानी शिल्प के अनेक नवीन और अनूठे प्रयोग किए हैं। दार्शनिक धरातल से लिखी गईं इन कहानियों में मानव तथा पौराणिक चरित्र; जैसे—'नारद का अर्घ्य' 'ऊर्ध्वबाहु' आदि; ऐतिहासिक चरित्र जैसे—'जयसन्धि', 'राजरानी' आदि; लौकिक एवं काल्पनिक संवेदना से युक्त चरित्र जैसे—'महामाया', 'नीलम देश की राजकन्या' आदि, तथा पशु, पक्षी, वृक्ष आदि को लेकर जैसे—'वह विचारा साँप', 'चिड़िया की बच्ची', 'तत्सत्' आदि विभिन्न प्रकार के पात्रों का आधार लेकर जैनेन्द्र ने किसी एक समस्या को उठाया है। और उसका अन्त किसी दार्शनिक ध्येय की परिसमाप्ति पर होता है।

इन कहानियों के कथानक स्पष्ट और अपने कथातत्व में पूर्ण रहते हैं। कथानक के विकास में घटनाओं की क्रमिक अवतारणा सहायक रहती है। इतिवृत्त में कलात्मकता का आग्रह मुख्य रूप से रहता है। पशु, पक्षी, वृक्षादि से सम्बन्धित प्रतीकात्मक कहानियों में कथानक निर्माण में कार्य-व्यापार और घटनाएँ मुख्य रूप से आई हैं। समष्टि रूप से इस वर्ग की कहानियों का कथा-विधान प्राचीन वार्ता, कथा, दृष्टान्त आदि की शैली के अनुरूप ही अधिक है इसलिए उसमें कलात्मकता प्रायः कम ही मिलती है। परन्तु इन कहानियों की सबसे बड़ी विशेषता इनका चरित्र-निर्माण, चरित्र-चित्रण तथा पात्रों में व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा मानी जा सकती है। इस क्षेत्र में जैनेन्द्र ने आश्चर्यजनक शिल्प-कौशल का परिचय दिया है। इन कहानियों में ऐतिहासिक, पौराणिक,

लौकिक, आध्यात्मिक, भावात्मक, प्रतीकात्मक आदि विभिन्न प्रकार के चरित्र आए हैं। संक्षेप में, चरित्र-निर्माण और व्यक्तित्व-प्रतिष्ठा ही इन दार्शनिक कहानियों के प्राण माने जाते हैं।

विशुद्ध दार्शनिक धरातल से लिखीं जाने के कारण इन कहानियों का निर्माण कहानी-कला की आधुनिक शैली के अनुसार नहीं हो सका क्योंकि जैनेन्द्र के शब्दों में—"दार्शनिक तत्व के रूप में सत्य अत्यन्त गरिष्ठ है। उस रूप में वह अपरीक्षित भी है। वह अधिकांश के लिए अग्राह्य है। फलतः उसको दृष्टान्तगत, चित्रगत और कथा रूप में परिवर्तन करना पड़ा तभी वे दार्शनिक तत्व ग्राह्य हो सके।" दृष्टान्त शैली में लिखी गईं कहानियों में किसी लौकिक घटना के दृष्टान्त द्वारा अभीप्सित दार्शनिक तत्व का उद्घाटन किया गया है। वार्ता शैली की कहानियाँ रेखाचित्र जैसी छोटी हैं। कथा-शैली की कहानियों में कथावाचकों की सी रोचकता और विस्तार है। इसलिए दार्शनिक कहानियों में इस शैली की कहानियाँ ही अधिक लोकप्रिय हुई हैं। देश, काल, परिस्थिति तथा पात्र आदि के चित्रण की दृष्टि से इन कहानियों को पूर्ण, कलात्मक और सौन्दर्यपूर्ण माना जा सकता है।

कोई-न-कोई निश्चित दार्शनिक नैतिक धारणा ही इन कहानियों के सृजन की मूल प्रेरणा रही है। जैनेन्द्र का चिन्तनशील व्यक्तित्व ही इन कहानियों का जनक रहा है। डा० लक्ष्मीनारायण लाल के शब्दों में—"इन कहानियों का धरातल इतना ऊँचा है कि कहानी-कला के इस चरम विकास युग में परम्परागत प्राचीन शैलियों में लिखी हुई कहानियों का मूल्य वस्तुतः भागवत अधिक है, शिल्पगत कम। ये कहानियाँ अध्यात्म दर्शन और रहस्य की उन शाश्वत प्रेरणाओं से लिखी गईं हैं जिनका मूलाधार हमारी संस्कृति है।" वस्तुतः वास्तविकता यह है कि जैनेन्द्र कहानी-निर्माण में तेकनीक को कभी अधिक महत्व नहीं देते। वे वस्तु को प्रधानता देते हैं न कि तेकनीक को। उनकी दृष्टि में कहानी में 'क्या कहना है' यह मुख्य है न कि 'कैसे कहना।'

जैनेन्द्र की कहानी-कला का निखार और सर्वोत्कृष्ट रूप उनकी उन कहानियों में दिखाई पड़ता है जो मनोवैज्ञानिक धरातल से लिखी गईं हैं। शिल्प-

विधान की दृष्टि से इनमें चरम विकास हुआ है। वस्तु के अनुरूप लगभग प्रत्येक कहानी की शिल्प-विधि अन्य कहानियों की शिल्प-विधि से भिन्न प्रतीत होती है। उसमें उत्तरोत्तर सूक्ष्मता आती चली गई है। इन कहानियों में उन्होंने मानव-मन और हृदय के उन गुह्य प्रदेशों का अन्वेषण और चित्रण किया है जो उन्हीं के शब्दों में मानव-मन के 'अलौकिक' का उद्घाटन करते हैं। अपनी बात को अधिकाधिक स्पष्ट और मर्मस्पर्शी रूप में कहने के प्रयत्न के कारण उनकी इन कहानियों में कथा-विधान के नए-नए कौशल, नए-नए प्रयोग, आश्चर्यजनक हस्त लाघव आदि के दर्शन होते हैं।

ये कहानियाँ भी कई प्रकार की हैं। कुछ जीवन के एक काफी लम्बे हिस्से को लेकर लिखी गई हैं; कुछ एक रात या कुछ घन्टों के अवकाश में ही मनुष्य का पूर्ण चित्र खींच देती हैं; कुछ विशिष्ट चित्रों की झाँकी दिखाकर समाप्त हो जाती हैं तथा कुछ केवल चरित्र-विश्लेषण को ही आधार बनाकर चलती हैं। इन सम्पूर्ण कथानकों में घटनाओं और संयोगों का सहारा बहुत ही कम लिया गया है। मानसिक सूत्र ही घटना-विकास के प्रधान साधन रहते हैं। कुछ कथानक बहुत ही सूक्ष्म हैं जिनमें कहानी-कला के सम्पूर्ण तत्व खो गए से प्रतीत होते हैं। सारांश यह कि जैनेन्द्र की इन कहानियों के कथानक उत्तरोत्तर सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होते चले गए हैं। सूक्ष्म भावों और मनोविकारों का कहीं-कहीं कथा से कोई सम्बन्ध ही नहीं रह गया है। इन कथानकों में जहाँ मनोविज्ञान स्थूल संवेदना को लेकर चला है वहाँ कथानक का रूप अधिक स्पष्ट रहा है, परन्तु जहाँ केवल चरित्र ही आधार रहे हैं वहाँ कथानक बहुत ही सूक्ष्म होता चला गया है।

इन कहानियों में चरित्र प्रधान रहने के कारण कथातत्व गौण और चरित्र-विश्लेषण प्रधान हो गया है। चरित्रों में दो प्रकार के चरित्रों को जैनेन्द्र ने चित्रित किया है—साधारण (टाइप) तथा विशिष्ट। कुल मिलाकर उनके चरित्रों में विशिष्ट चरित्रों की ही बहुलता मिलती है। ये विशिष्ट चरित्र अन्तर्मुखी होने के कारण किसी-न-किसी मानसिक अन्तर्द्वन्द्व में बराबर ग्रस्त रहते हैं। कोई रहस्यमय शक्ति उन्हें सदैव किसी-न-किसी आन्तरिक समस्या से निरंतर व्यस्त और त्रस्त बनाये रहती है। इनका व्यक्तित्व बड़ा विचित्र रहता है।

ऊपर से देखने पर ये अडिग, दुर्द्धर्ष से प्रतीत होते हैं परन्तु प्रत्येक मानवीय स्थिति का आघात पाते ही टूट कर बिखर जाते हैं। इनमें सदैव एक अव्यक्त करुणा, टीस, अनिर्दिष्ट अभाव बना रहता है और ये संघर्ष करने की कामना करते हुए भी निष्पन्द, निश्चेष्ट बन कर अकर्मण्य के समान पराजित हो टूट जाते हैं। परन्तु फिर भी इन विशिष्ट अथवा असाधारण चरित्रों के व्यक्तित्व में एक ऐसी कलात्मक पूर्णता की प्रतिष्ठा हुई है जो अनायास ही पाठक को अभिभूत कर लेती है। साधारण या वर्ग प्रतिनिधि चरित्र जैनेन्द्र की ऐसी कहानियों में पाए जाते हैं जो घर, परिवार या किसी व्यक्ति विशेष का चित्रण करती हैं। ऐसे चरित्र साधारण कोटि के ही हैं।

साधारणतः जैनेन्द्र ने अपने पात्रों में व्यक्तित्व-विश्लेषण पर ही अधिक बल दिया है। यह कार्य उन्होंने विभिन्न प्रकार से किया है। आत्म-विश्लेषण, मानसिक ऊहापोह, अवचेतन विज्ञप्ति, संकेत और कार्यों द्वारा इनके चरित्रों में उक्त दोनों कार्यों को सम्पन्न किया गया है। समष्टि रूप से जैनेन्द्र के चरित्र संघर्ष करने को उद्यत परन्तु क्षण भर में ही पराजित होकर समझौता कर लेने वाले, अन्तर्मुखी, अपने ही मानसिक या हृदयगत द्वन्द्वों से त्रस्त, सामाजिक यथार्थ से दूर भागने वाले, निष्क्रिय, अकर्मण्य और असाधारण हैं। जैनेन्द्र निरन्तर ऐसे ही चरित्रों की अवतारणा करने में व्यस्त रहे हैं। रोटी या शोषण की समस्या को उन्होंने कभी महत्वपूर्ण नहीं समझा है। इसका कारण यह है कि जैनेन्द्र ने अपने पात्रों को उनके सामाजिक परिप्रेक्ष्य न देखकर सदैव व्यक्ति के रूप में ही देखा है। इसी कारण वे सामाजिक समस्याओं की तह तक पहुँचने में असमर्थ रहे हैं। यहीं आकर जैनेन्द्र प्रेमचन्द से नितान्त भिन्न और व्यक्तिवादी बन जाते हैं।

कहानी-निर्माण शैली की दृष्टि से जैनेन्द्र की कहानियों में अनेक प्रकार की शैलियों के दर्शन होते हैं क्योंकि उन्होंने 'दर्शन और मनोविज्ञान के विभिन्न स्तरों और धरातलों' से अपनी कहानियों का निर्माण किया है। डा० लक्ष्मी-नारायण लाल ने उनकी समस्त शैलियों का अध्ययन कर उनकी छः शैलियाँ निर्धारित की हैं—

१—पत्रात्मक शैली—'परावर्तन'; २—आत्म-कथात्मक शैली—'नादिरा';
३—सम्वाद शैली—'ब्रीड्टिस'; ४—स्वगत-भाषण शैली—'क्या हो';
५—नाटक शैली—'परदेशी'; ६—ऐतिहासिक शैली—'मास्टर जी'।

इन सम्पूर्ण शैलियों में कथा-तत्त्व के कम-से-कम उपकरणों का उपयोग किया गया है। भूमिका और उपसंहार का सर्वथा अभाव है। अन्तर्कथाएँ न के बराबर हैं। लेखक का ध्यान सदैव केन्द्र-लक्ष्य की ओर लगा रहता है और कथा बड़ी तीव्र गति से कलात्मक संगुफन के साथ उसी की ओर बढ़ती है। वर्णन और चित्रण में चित्रात्मकता और विश्लेषण पद्धति को अपनाया गया है। देश-काल-चित्रण प्रायः व्यंजित रहता है, उसका पृथक् रूप से खुल कर चित्रण नहीं किया जाता। व्यक्ति और उसका मनोविज्ञान केन्द्र रहने के कारण वर्णनादि में अत्यन्त सूक्ष्मता एवं व्यंजना से काम लिया गया है। और यह सारा चमत्कार उत्पन्न करने का बहुत बड़ा श्रेय उनकी उस प्रांजल, सशक्त एवं प्रवाहपूर्ण भाषा शैली को है जो स्थिति एवं विषय के अनुसार अपने स्वरूप में परिवर्तन और कलात्मकता लाती चली जाती है। डा० लाल के शब्दों में—

"इसमें इतनी स्वाभाविकता और प्रवाह है कि कहानियाँ अपनी संवेदना के साथ पाठक के अन्तस्थल को स्पष्ट करती चलती हैं। जहाँ व्यक्ति विश्लेषण हुआ है वहाँ की भाषा गद्य शिल्पी की हुई है। जहाँ मानसिक ऊहापोह दिखाया गया है वहाँ की भाषा चिन्तक की भाषा हुई है और जहाँ किसी चित्र-मूर्त्ति की प्रतिष्ठा करनी है वहाँ की भाषा कवित्वपूर्ण भावुक और एक चतुर शिल्पी की भाषा है। अतएव जैनेन्द्र की भाषा में भावोचित शब्द-निर्माण, स्वाभाविक शब्द-चयन और शब्द-विस्तार इतना है कि उन्होंने सूक्ष्म से सूक्ष्म भावों की अभिव्यक्ति में सफलता प्राप्त की है। भाषा की लक्षणा और व्यंजना शक्ति को उन्होंने इतना बल दिया है कि आधुनिक हिन्दी कहानी की भाषा उनकी सदैव कृतज्ञ रहेगी।"

जैनेन्द्र की भाषा में उर्दू, अंग्रेजी, संस्कृत आदि भाषाओं के सरलतम एवं क्लिष्ट शब्दों का स्वाभाविक प्रयोग होता है। वे शब्दों का प्रयोग करते समय केवल एक ही बात का ध्यान रखते हैं—उससे भाषा की स्वाभाविकता, सह-

जता और बोधगम्यता में किसी भी प्रकार का व्यवधान नहीं पड़ना चाहिए। इस पर भी कुछ आलोचकों ने उनकी भाषा-शैली को अस्वाभाविक और कृत्रिम घोषित कर उसकी निन्दा भी की है। इस निन्दा में थोड़ा-सा तथ्य भी है। उनकी भाषा व्यावहारिक तो अवश्य है परन्तु जिस ढंग से वे उसे प्रस्तुत करते हैं उसे पूर्णतः व्यावहारिक नहीं माना जा सकता। शैली भाषा की स्वाभाविकता और बोधगम्यता को नष्ट कर देती। मगर ऐसा होता उन्हीं स्थलों पर है जहाँ वे दर्शन या मनोविज्ञान की गहराइयों में उतरने का प्रयत्न करते हैं। अत्यधिक सैद्धान्तिक विश्लेषण-विवेचन, अन्तर्द्वन्द्वों का अधिक विस्तार, आध्यात्मिकता के प्रति अधिक आग्रह उनकी भाषा और शैली की स्वाभाविकता को नष्ट कर उसे दुरूह, जटिल और अबोध्य बना देते हैं। जहाँ भावुकता उनके तर्क पर हावी हो जाती है वहाँ भाषा, शैली, चरित्र, कथानक आदि सभी कुछ अस्पष्ट हो उठते हैं।

जैनेन्द्र की कहानियों का सबसे बड़ा आकर्षण उनके 'प्रभाव की 'एकता' का सफल एवं कलात्मक निर्वाह माना जा सकता है। इस सम्बन्ध में जैनेन्द्र ने स्वयं कहा है—

"मैं समझता हूँ कहानी को ऐक्य प्रदान करने वाला, संघटित करने वाला जो भाव है, उस पर उसका ध्यान केन्द्रित रहे। यदि ऐसा हो। तो कहानी के सब अवयव दुरुस्त रहेंगे और सारी कहानी में ऐक्य तथा प्रवाह रहेगा। जिसे चरम उत्कर्ष (Climax) कहते हैं, उसकी ओर ही सारी कहानी बही जा रही है, यह बात स्वयं आ जायेगी। जहाँ वह उत्कर्ष पूर्ण होगा वहीं कहानी का अन्त हो जायेगा।" जैनेन्द्र की लगभग सभी कहानियों में यही विशेषता मिलती है।

जैनेन्द्र की कहानी-कला के सम्बन्ध में अन्त में हम एक बात और कह देना चाहते हैं। जैनेन्द्र व्यक्तिवादी लेखक हैं, समाज से कटे हुए। इसलिए उनकी कहानियाँ बौद्धिक अधिक हैं। साधारण पाठक को उनमें न मनोरंजन मिलता है और न किसी उपयोगिता के ही दर्शन होते हैं। भावुकता और चिन्तन की अतिशयता ने उन्हें इतना दुरूह बना दिया है कि साधारण पाठक उनमें रस नहीं ले पाता। प्रभाकर माचवे के अनुसार जैनेन्द्र के सिद्धान्तों की

अतिशयता उनके कलाकार को खा गयी है। मानसिक ऊहापोह, सिद्धान्तों का विश्लेषण-विवेचन उन्हें नीरस बना देता है। तर्कजाल, दार्शनिकता का रंग उनकी सारी सरसता को खा जाता है। इन कहानियों को पढ़कर प्रबुद्ध पाठक भी अपने को कुछ खोया हुआ-सा, उलझन में पड़ा हुआ-सा अनुभव करने लगता है। जैनेन्द्र की भावुकता और उनकी अनुभूतियों की विलक्षणता के साथ वह अपना तादात्म्य स्थापित नहीं कर पाता। फिर फिर जैनेन्द्र हिन्दी के एक मौलिक और साथ ही प्रतिभाशाली कलाकार हैं जिनको इस क्षेत्र में प्राप्त प्रसिद्धि को देखकर कोई भी कलाकार उनसे रश्क करने लगता है।

चन्द्रगुप्त विद्यालंकार

हिन्दी के प्रसिद्ध साहित्यकार और सरकारी मासिक पत्रिका 'आजकल' के सम्पादक चन्द्रगुप्त विद्यालंकार गुरुकुलों के विद्यालंकारो की उस गौरव-मयी परम्परा के सफल उत्तराधिकारी हैं जिसने हिन्दी को अनेक उच्चकोटि के सम्पादक, इतिहासवेत्ता और कथा-लेखक प्रदान किए हैं। चन्द्रगुप्त विद्यालंकार का हिन्दी कहानी-साहित्य में अपना एक विशिष्ट स्थान है। यद्यपि इन्होंने कहानियाँ लिखना बहुत पहले से ही प्रारम्भ कर दिया था परन्तु उसका चरम-विकास इस युग में आकर ही दिखाई दिया। इसी कारण इनकी गणना संक्रान्ति-कालीन प्रमुख कहानीकारों में की जाती है। इनकी प्रसिद्धि मूलतः एक सफल और उत्कृष्ट कोटि के प्रभाववादी कहानी-लेखक के रूप में ही अधिक है। वर्तमान युग की अनेक प्रवृत्तियाँ उनकी इस पद्धति की कहानियों में बड़े कलात्मक ढंग से मुखरित हुई हैं। आलोचकों ने उनकी कहानी-कला की निम्न-लिखित विशेषतायें मानी हैं—

मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, भाव-व्यंजना में नारी की, पात्रों के चरित्र में गहरी पैठ और सुन्दर-सुगठित कला-विधान।

इन्होंने अपनी उपर्युक्त विशेषताओं की सहायता से साधारण और दैनिक जीवन के अनेक भाव-पूर्ण चित्रों का चयन कर उन्हें बड़े प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया है। प्रभाव-प्रधान कहानियाँ लिखने में तो उन्हें अद्वितीय सफलता प्राप्त हुई है। 'क ख ग', 'काम-काज', 'ताँगेवाला', 'डाकू', 'एक सप्ताह', 'चौबीस घन्टे' आदि उनकी कहानियाँ अधिक महत्वपूर्ण मानी जाती हैं। इस पद्धति की कहानियों में अभीप्सित प्रभाव ही प्रधान रहता है और कहानी के

अन्य तत्व गौण। 'क ख ग' इनकी इसी पद्धति की एक प्रसिद्ध कहानी है। इसमें 'कामकाज' के ही समान तीन स्वतंत्र कहानियाँ दी गई हैं—'हत्या', 'शहादत' और 'त्याग'। इसमें चरित्र और घटना का कोई विशेष महत्व नहीं है। डा० श्रीकृष्ण लाल के शब्दों में इसका—

"वास्तविक महत्वपूर्ण अंश उसका प्रभाव विशेष है, जो पढ़ने वालों के मस्तिष्क पर एक अमिट छाप लगाता है कि यह संसार स्वार्थ और सहानुभूति, हत्या और त्याग का रंगस्थल है। यहाँ एक ओर थोड़े से रुपयों के लिए भाई-भाई को हत्या करता है तो दूसरी ओर एक स्वामिभक्त कुत्ता अपने स्वामी के विछोह में अपने प्राण तक दे देता है।"

चन्द्रगुप्त ने अपनी ऐसी कहानियों में किसी-न-किसी सामयिक सत्य की व्यंजना करने का प्रयत्न किया है और इसमें उन्हें पूर्ण सफलता मिली है। इन कहानियों में न भाषा का चमत्कार पूर्ण रूप दिखाई पड़ता है और न संवादों का ही कोई विशेष महत्व रहता है। वर्तमान काल में इस पद्धति की कहानियाँ अनेक लेखकों ने लिखी हैं परन्तु इस क्षेत्र में सबसे अधिक सफलता चन्द्रगुप्त विद्यालंकार को ही प्राप्त हुई है। नीचे हम उनकी 'कामकाज' कहानी का इसी दृष्टि से मूल्यांकन करने का प्रयत्न करेंगे।

किसी भी सामयिक सत्य की व्यंजना करना हमारे कुछ कहानीकारों का प्रधान उद्देश्य रहा है। चन्द्रगुप्त विद्यालङ्कार की अनेक कहानियाँ इन्हीं सामयिक सत्यों की व्यंजना करती हैं। इनकी 'क ख ग' तथा 'कामकाज' शीर्षक कहानियाँ कुछ सामयिक सत्यों की व्यंजना करने वाली प्रभाव-प्रधान कहानियाँ हैं। इन कहानियों का मुख्य उद्देश्य एक प्रभाव विशेष की सृष्टि करना होता है। इनमें चरित्र, वातावरण, घटना इत्यादि की तुलना में प्रभाव को ही प्रधानता दी जाती है। डा० श्रीकृष्ण लाल ने इस प्रकार की कहानियों का विवेचन करते हुए लिखा है—

"प्रभाव प्रधान कहानियों की कला बहुत कुछ संगीत-कला से मिलती-जुलती है। संगीत गाने के शब्दों का कोई विशेष महत्व नहीं है और न उस गाने का भाव ही कोई विशेष महत्व रखता है, मूल तत्व तो उसका प्रभाव है, जो सुनने वालों पर पड़ता है।...वास्तविक वस्तु उसका प्रभाव है। ठीक इसी

प्रकार प्रभाव-प्रधान कहानी में उसका प्रभाव ही सब कुछ है, चरित्र, कथानक इत्यादि का कोई महत्व नहीं है।"

'कामकाज' कहानी एक लम्बी कहानी न होकर तीन स्थूल रूप से परस्पर असम्बद्ध परन्तु सूक्ष्म रूप से परस्पर प्रगाढ़ रूप से सम्बद्ध घटनाओं का एकत्रीकरण है। इन तीनों घटनाओं का अपना-अपना कथानक है जो इस प्रकार है—

पहली घटना क्वेटा-भूकम्प में बर्बाद और घायल हुए एक वृद्ध पुरुष के लाहौर के अनारकली बाजार में आने से प्रारम्भ होती है। ये वृद्ध पुरुष कुछ कपड़े खरीदने की इच्छा से लाला कस्तूरीमल की दूकान पर जाते हैं। लाला कस्तूरीमल को जैसे स्वतः ही इलहाम सा हो गया कि ये सज्जन कहाँ से आ रहे हैं। अतः वे उन्हें धोती, कमीज आदि दिखाते जाते हैं और साथ-साथ क्वेटा-निवासी अपने बहनोई मधुसूदन के विषय में भी पूछते जाते हैं। उनके ये दोनों कार्य एक साथ चलते हैं। उक्त वृद्ध पुरुष उन्हें सूचना देते हैं, जो उन्हें मधुसूदन के छोटे भाई से मिली थी, कि मधुसूदन और उनका पुत्र दोनों मर चुके हैं और उनकी पत्नी अस्पताल में पड़ी है। लाला कस्तूरीमल बारम्बार अपने अविश्वास को उभाड़-उभाड़ कर उनसे प्रश्न पूछते जाते हैं और अन्त में उन्हें विश्वास हो जाता है। इस पूरे वार्तालाप के समय लाला कस्तूरीमल प्रश्न भी पूछते हैं और साथ-साथ अपना माल दिखाते हुए उसकी कीमत और विशेषता भी बताते जाते हैं। उक्त वृद्ध पुरुष उनके प्रश्नों का उत्तर देते जाते हैं और साथ-साथ उनसे भाव-ताव भी करते जाते हैं। इस प्रकार दोनों अपना-अपना कामकाज करते रहते हैं जिसके दो नितान्त परस्पर विरोधी रूप हैं।

दूसरी घटना रावलपिंडी की जेल की है। जेल का पठान जमादार यूसुफ पन्द्रह वर्ष से जेल में नौकरी कर रहा है मगर उसने इस बीच एक दिन की भी छुट्टी नहीं ली है। एक दिन उसे जीवन में पहला तार मिलता है कि उसका ससुर मरणासन्न है और उसे बुला रहा है। वह छुट्टी के लिए जेलर से दरख्वास्त करता है मगर जेलर कई दिक्कतें पेश कर अन्त में इस शर्त पर उसे छुट्टी देने के लिये तैयार हो जाता है कि वह दो दिन बाद जाय क्योंकि उसे पेशावर एक अफसर के पास सेवों की पेटी भिजवानी है जो दो दिन बाद

ही कश्मीर से आ पायेगी। कहानी लेखक के शब्दों में—"जेलर साहब का यह काम इतना अधिक महत्वपूर्ण था कि बेचारा यूसुफ आज ही रवाना हो जाने के लिये और अधिक आग्रह न कर सका।"

तीसरी घटना बैंक के एक क्लर्क देशराज की है। शनिवार का दिन है। बैंक एक बजें बन्द हो जाता है। इस समय बारह बज कर पैंतीस मिनट हुए हैं। उसे बैंक जाकर पाँच सौ रुपए जमा कर अपने मालिक की एक रेलवे की रसीद छुड़ानी है। वह साइकिल पर बैंक जा रहा है। मार्ग में कुछ आदमी उसे रोक लेते हैं और राह चलते गश खाकर गिर पड़े एक आदमी के लिए कहीं से पानी ला देने का उससे आग्रह करते हैं। वह आदमी अपरिचित है। देशराज के हृदय में दया का संचार हो उठता है। वह देखता है कि उधर से होकर साइकिलों और कारों का ताँता-सा बँधा हुआ है परन्तु कोई भी रुक कर पूछने का कष्ट नहीं कर रहा। उसके पास अब केवल पन्द्रह मिनट अपना बैंक का काम करने के लिए शेष रह गए हैं। रसीद आज ही प्राप्त करनी है। वह यह कहकर वहाँ से चल पड़ता है कि—"बीस-पच्चीस मिनट में वापस आता हूँ।" जब वह बैंक से लौटता है तो सड़क पर उसे भारी भीड़ दिखाई पड़ती है। पूछताछ करने पर उसे ज्ञात होता है कि वह व्यक्ति मर चुका है। देशराज एक ठंडी साँस लेकर वहाँ से चल देता है। उसने अपना काम पूरा कर लिया था।

इन्हीं तीन संक्षिप्त-सी घटनाओं द्वारा 'कामकाज' कहानी का निर्माण हुआ है। लेखक ने मानव-जीवन के असंख्य उदाहरणों में से छाँट कर तीन उदाहरण उपर्युक्त तीन कहानियों के रूप में प्रस्तुत किए हैं। इन तीनों उदाहरणों से ऐसा प्रतीत होता है कि मानव की दृष्टि में उसके अपने कामकाज के सम्मुख मानवता का कोई मूल्य नहीं रह गया है। वह अपने स्वार्थ के लिए मानवता की बलि चढ़ा चुका है। इसे सिद्ध करने के लिए लेखक ने मानव-जीवन के तीन वास्तविक चित्र उपस्थित कर दिए हैं। अपनी तरफ से न तो किसी प्रकार का प्रत्यक्ष उपदेश ही दिया है और न कोई टिप्पणी ही की है। कला सदैव संकेत देती हैं। यही संकेत इन कहानियों का मूल बिन्दु है। इनमें न तो पात्रों का कोई विशेष महत्व है और न घटनाओं का। पात्र और घटनायें उस

मूल संवेदना को व्यक्त करने के साधन मात्र हैं। लेखक तीनों कहानियों द्वारा यही संकेत देता है कि अपने स्वार्थ के सम्मुख मानव दूसरों के हिताहित का ध्यान नहीं रखता। यद्यपि मूल संकेत तीनों ही कहानियों में यही है परन्तु उसके रूप भिन्न हैं। पहली कहानी में मानव के अपने स्वार्थ के सम्मुख दूसरे की कोई विशेष हानि नहीं होती। दूसरी में अपने नगण्य से स्वार्थ के सम्मुख जेलर यूसुफ जमादार की मानसिक वेदना एवं छटपटाहट का कोई भी मूल्य नहीं समझता। तीसरी में क्लर्क देशराज उस मरणासन्न अपरिचित की सहायता करना चाहता है परन्तु मजबूर होकर नहीं कर पाता। इस प्रकार तीनों के स्वार्थ की अपनी-अपनी स्वाभाविक, जघन्य और मजबूरी भरी विवशतायें हैं। परन्तु समष्टि रूप से तीनों की मूल संवेदना एक ही है—मानव अपने कामकाज अर्थात् स्वार्थ के सम्मुख दूसरे व्यक्तियों की भावनाओं, हिताहित आदि का कोई मूल्य नहीं समझता।

क्वेटा से आए वृद्ध पुरुष अपना सब कुछ खो चुके हैं, घायल हैं, निराश्रित हैं। परन्तु लाला कस्तूरीमल उनकी उपस्थिति से अपना यह स्वार्थ सिद्ध करना चाहते हैं कि उन्हें उनके द्वारा अपनी बहिन-बहनोई का समाचार मिल जाय और साथ ही कुछ बिक्री भी हो जाय। उन्हें उन वृद्ध पुरुष की विपन्नता के प्रति कोई सहानुभूति नहीं है। वे बारम्बार खोद-खोदकर उनसे वकीलों की सी जिरह करते हैं। उनकी उत्तेजना स्वाभाविक है। अपने आत्मीयों का कुशल-मंगल प्रत्येक व्यक्ति को विचलित कर देता है। यही दशा लाला कस्तूरीमल की है। परन्तु लाला कस्तूरीमल की व्याकुलता और अपने कामकाज के प्रति उनकी एकनिष्ठा में एक विचित्र सी करुणा, दीनता और कर्त्तव्य निष्ठा का मिश्रण हुआ है जो उनकी स्वार्थ-परता को जघन्यता का रूप नहीं प्रदान करता। उनका अन्तर्द्वन्द्व पूर्ण मनोवैज्ञानिक है। यह स्वार्थ-परता का एक उदात्त रूप माना जा सकता है।

स्वार्थ परता का जघन्यतम रूप जेलर है। वह अपने नगण्य से स्वार्थ के सम्मुख जमादार यूसुफ की मानसिक वेदना को महत्व नहीं देता। यूसुफ अपने देश, अपने आत्मीय जनों को देखने के लिए छटपटा रहा है। एक-एक क्षण का विलम्ब उसके प्राणों को वेदना से मथे डाल रहा है। वह शीघ्र-से-शीघ्र

अपने ससुर के पास पहुँच जाना चाहता है—उस देश में जहाँ वह पैदा हुआ था, जहाँ के वातावरण में उसके जीवन की मधुरतम स्मृतियाँ लिपटी हुई हैं, जहाँ उसकी पत्नी है। परन्तु क्योंकि जेलर को सेवों की पेटी यूसुफ द्वारा पेशावर भेजनी हैं इसलिए वह उन दो दिनों का कोई मूल्य या महत्व नहीं समझता जो यूसुक के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। जेलर की सेवों की पेटी का पेशावर भेजा जाना, जेलर की दृष्टि में यूसुफ की उन कोमल, व्यग्र, पीड़ित भावनाओं से अधिक महत्व रखता है। यूसूफ क्योंकि नौकर है, सीधा-सादा पठान है, इसलिए विवश होकर जेलर की बात को स्वीकार कर लेता है। यह मानव की स्वार्थपरता का जघन्यतम रूप है। जेलर के सम्मुख किसी प्रकार की विवशता नहीं है। वह आसानी से यूसुफ को छुट्टी दे सकता था।

क्लर्क देशराज की स्वार्थपरता उसकी असहाय विवशता के कारण है। वह तीस रुपए मासिक का नौकर है। मालिक के काम से बैंक जा रहा है। काम बहुत जरूरी है। न होने पर मालिक का नुक्सान होगा और ऐसी स्थिति में सम्भव है कि उसे अपनी नौकरी से हाथ धोना पड़े। इसलिए वह उस मरणासन्न अपरिचित की सहायता करने की अभिलाषा रखते हुए भी परिस्थितियों से मजबूर होकर नहीं कर पाता। स्वयं पीड़ित है, शोषित है इसलिए उसकी मानवता मरी नहीं है। उस मरणासन्न अपरिचित के लिए मजदूर वर्ग में सहानुभूति है। वे लोग अपना काम छोड़कर उसकी सहायता करना चाहते हैं परन्तु कार वालों और विद्यार्थियों आदि में उसके प्रति कोई सहानुभूति नहीं है। इस उच्च और मध्यम वर्ग की मानवता लाला कस्तूरीमल और जेलर के समान मर चुकी है। परन्तु इस कमकर वर्ग की अपनी विवशतायें हैं, सीमायें हैं जो उनके शुभ कार्य में रोड़ा बन जाती हैं। इसलिए क्लर्क देशराज का स्वार्थ जघन्य नहीं है। लाला कस्तूरीमल और जेलर की तुलना में वह बहुत श्रेष्ठ और महान् है। उसकी विवशतायें, जो यथार्थ और सच्ची हैं, उसे अपनी मानवता का प्रदर्शन करने से रोक देती हैं।

उपर्युक्त अन्तर के रहते हुए भी इन तीनों कहानियों की मूल संवेदना एक ही है—अपने कामकाज या स्वार्थ के लिए मानवता का बलिदान। इसी साम-

यिक सत्य को लेखक ने तीन भिन्न घटनाओं द्वारा व्यंजित किया है। वह केवल इसी प्रभाव-विशेष की सृष्टि करना चाहता है और इसमें उसे सफलता भी मिलती है। परन्तु इस प्रकार के प्रभाव में वह घनत्व नहीं होता जो अज्ञेय की 'रोज' जैसी कहानियों में पाया जाता है। 'कामकाज' कहानी में वातावरण प्रधान नहीं है। पात्र और वातावरण उस अभीप्सित सत्य की व्यंजना करने के माध्यम मात्र हैं। मानव-जीवन के ये खंड-चित्र उस सामाजिक स्थिति को ध्वनित करते हैं जिसकी विषमताओं में पिसकर मानव की आत्मा मर चुकी है। धन और वैभव से सम्पन्न मानव हृदयहीन हो चुका है, मानव मानव का शत्रु बन गया है।

कथानक, वर्णन, वातावरण, भाषा, शैली आदि का इस कहानी में कोई विशेष महत्व नहीं है। परन्तु पहली कहानी के मार्मिक और चमत्कारपूर्ण संवाद अपना विशेष कलात्मक सौन्दर्य रखते हैं। ऐसे कुशल, संक्षिप्त, प्रभावशाली संवाद—पात्रों की उस मनोवैज्ञानिक स्थिति के सूचक हैं जिनमें उन्हें कार्य करना पड़ रहा है। कलात्मक दृष्टि से इस कहानी को एक सफल रचना माना जा सकता है।

कमलाकान्त वर्मा

जिस प्रकार चन्द्रगुप्त विद्यालंकार का महत्व एक सफल प्रभाववादी-कहानी लेखक के रूप में है उसी प्रकार कमलाकान्त वर्मा प्रतीकवादी कहानियां लिखने में अद्वितीय माने जाते हैं। यद्यपि इन्होंने अधिक कहानियां नहीं लिखीं हैं परन्तु फिर भी इनकी लिखी प्रत्येक कहानी चर्चा का विषय बनी है। इनकी कहानियों में कला का उत्कृष्ट रूप मिलता है। वे जड़ पदार्थों पर चेतना का आरोप कर जहां मानव के मनोभावों का विश्लेषण करते हैं वहां उनकी कलात्मक प्रभविष्णुता अपूर्व हो उठती है। ऐसी कहानियों द्वारा उन्होंने मानव-जीवन की चिरन्तन समस्याओं का विश्लेषण प्रस्तुत किया है। चरित्र-विश्लेषण की अपूर्व शक्ति, जीवन के सत्यों का चमत्कारपूर्ण उद्घाटन और एक नवीन भंगिमा से पूर्ण शिल्प-विधान ने उनकी कहानियों में एक अद्भुत आकर्षण उत्पन्न कर दिया है। 'पगडंडी', 'तकली', 'खंडहर' आदि उनकी ऐसी ही प्रसिद्ध कहानियाँ हैं।

कमलाकान्त वर्मा मूलतः कवि प्रतीत होते हैं। कार्लायल के अनुसार केवल वही व्यक्ति कवि नहीं होता जो कविता लिखता हो बल्कि वह भी कवि होता है जो कविता को समझता और उससे आनन्दित होता है। इसमें यह वाक्य और जोड़ा जा सकता है कि वह व्यक्ति भी कवि होता है जो किसी वस्तु विशेष को देख भावनाओं से आन्दोलित हो उठे। कमलाकान्त वर्मा ऐसे ही कवि-हृदय कलाकार हैं। वे एक खण्डहर देखते हैं और उनकी कल्पना के सम्मुख उस खंडहर का वह पूर्व चित्र साकार हो उठता है जब वह एक सुन्दर भवन था। ईंट, पत्थर, चूने और लकड़ी से बना एक विशाल भवन। सामने एक सड़क

थी जिस पर खड़ा चुंगी का लैम्प रात को प्रकाश फैलाता था। लेखक ने इसी सुन्दर आकर्षक चित्र को अपनी कल्पना द्वारा एक कहानी के रूप में प्रकट किया है—"जिसमें महल, प्रकाश, सड़क इत्यादि मानव के रूप में उपस्थित हो अपना स्नेह-प्यार, मान-अभिमान, कलह-विरोध इत्यादि की कहानी सुनाते हैं।" इस खंडहर को देख लेखक को अतीत-युग के उस चित्र की याद आ जाती है जब वहाँ एक विशाल भवन रहा होगा—अपने वैभव से परिपूर्ण। और लेखक उस चित्र को कहानी के रूप में अङ्कित कर देता है जिसमें वह भवन, सड़क, प्रकाश आदि सभी चेतन पदार्थ बन जाते हैं। 'तकली' कहानी में लेखक इसी कलात्मक कौशल के साथ तकली और पूनी के वार्तालाप के माध्यम से मानव-सभ्यता के पूरे इतिहास का वर्णन कर जाता है। 'पगडंडी' का भी इसी प्रकार मानवीकरण किया गया है।

इस पद्धति की कहानियों में कल्पना का अत्यधिक प्रयोग होने के कारण कविता पढ़ने का सा आनन्द आता है। कल्पना के आधिक्य के कारण भाषा का रूप भी मनोरम, आकर्षक और प्रभावशाली हो उठता है। हिन्दी में इस पद्धति की कहानियाँ बहुत कम लिखी गईं हैं। नीचे हम 'पगडंडी' शीर्षक कहानी का विवेचन करने का प्रयत्न करेंगे।

डा० श्रीकृष्णलाल कमलाकान्त वर्मा की प्रस्तुत कहानी 'पगडंडी' जसी कहानियों में आधुनिक कहानियों का अन्तिम विकास मानते हैं, यद्यपि उनका यह कथन आंशिक रूप से ही सत्य है क्योंकि हिन्दी-कहानी 'पगडंडी' से काफी आगे बढ़ चुकी है। इस कहानी के पश्चात् हिन्दी-कहानी लगभग दो दशकों का विकास पथ पार कर चुकी है और आज 'पगडंडी' जैसी कहानियाँ पुरानी मानी जाने लगी हैं। 'पगडंडी' जैसी कहानियों में अध्यान्तिरिक (Subjective) दृष्टिकोण उपस्थित किया जाता है। ऐसी कहानियों में कवित्वपूर्ण कल्पना का चमत्कार एवं सौन्दर्य देखने योग्य होता है। इसका 'कलारूप आधुनिक कविता के संबोध गीत (odes) से बहुत कुछ मिलता-जुलता रहता है।' इनमें प्रायः जड़ पदार्थों का मानवीकरण कर उन्हें मानव बुद्धि और चेतना से संयुक्त कर दिया जाता है और वे जड़ पदार्थ अपना इतिहास सुनाते हैं जिनकी भावनायें, अनुभूतियाँ आदि सभी कुछ मानवीय ही रहती हैं। एक प्रकार से ऐसी कहा-

नियों को प्रतीकवादी कहानियाँ भी कहा जा सकता है यद्यपि ये विशुद्ध रूप से प्रतीकवादी कहानी की परिभाषा की सीमा में नहीं आ पातीं। इनका उद्‌भव सम्भवतः छायावाद की मानवीकरण वाली प्रवृत्ति में ही खोजा जा सकता है। इन कहानियों में कथावस्तु अत्यन्त सूक्ष्म और विरल रहती है। उसका अधिक महत्व नहीं रहता। दार्शनिक विवेचन, मानसिक ऊहापोहों की इन कहानियों में भरमार रहती है। हिन्दी में कमलाकान्त वर्मा इस प्रकार की कहानी लिखने में कुशल माने जाते हैं। उनकी 'खंडहर', 'तकली' आदि इसी प्रकार की कहानियाँ हैं।

हम ऊपर कह आए हैं कि 'पगडंडी' जैसी कहानियों में कथावस्तु अत्यन्त संक्षिप्त, अस्पष्ट और विरल रहती है। 'पगडंडी' की कथावस्तु भी इसी प्रकार की है। इसमें पगडंडी स्वयं अपनी सम्पूर्ण जीवन-कथा का वर्णन करती है कि किस प्रकार उसका जन्म हुआ, वह विकसित हुई और विकास करते-करते अन्त में एक विशाल राजमार्ग बन गई। इस पगडंडी के दो साथी हैं—बट दादा और रामी का कुआ। बटदादा बुजुर्ग हैं; पगडंडी नारी है और रामी का कुआ पुरुष। पगडंडी और रामी के कुआ में प्रायः प्रेम और मान की कलह होती रहती है। पगडंडी चाहती है कि ऐसी कलह के उपरान्त जब वह रूठ जाय, बोलना बन्द कर दे तो रामी का कुआ, पुरुष होने के नाते, उसे मनाये, उसकी खुशामद करे। परन्तु रामी का कुआ इस बात से पूर्ण निर्लिप्त बना रहता है। पगडंडी को उसकी यह उपेक्षा बहुत खलती है। वह मौके ढूँढ़-ढूँढ़ कर रामी के कुआ से लड़ती-झगड़ती रहती है परन्तु उस कुआ की उदासीनता पूर्ण उपेक्षा के कारण उसका नारीत्व असन्तुष्ट, तृषित, अतृप्त और कुंठित बना रहता है। यह स्थिति बहुत दिनों तक चलती रहती है और अन्त में हार कर पगडंडी उस स्थान से खिसकना प्रारम्भ कर देती है।

यह स्थिति आ जाने पर रामी का कुआ एक दिन पगडंडी को सम्बोधित कर उसे अपनी उपेक्षा का कारण बताता है और कहता है कि वह उससे बहुत प्रेम करता है परन्तु अपने स्वार्थ के लिए वह उसके भविष्य को बिगाड़ना नहीं चाहता। क्योंकि 'पगडंडी' जैसी आत्माओं का जीवन-उद्देश्य प्रेम न हो कर सेवा होता है। इसलिए रामी का कुआ कहता है कि उसे इस बात की प्रसन्नता है

कि 'पगडंडी', को अब आत्म-बोध हो गया है और वह प्रेम के मोह को त्याग कर सेवा-परायण बनने जा रही है। वह तो उससे उसी दिन से प्रेम करने लगा था जब वह पहले-पहल वहाँ आई थी। उसके आने पर कुए ने बट दादा से पूछा था कि यह कौन है? इस पर बट दादा ने परिहास करते हुए कहा था कि तेरी बहू है। कुआ पगडंडी के प्रति अपने इस मूक स्नेह को इसी लिए बराबर छिपाता आया था कि कहीं पगडंडी अपने महान उद्देश्य से भ्रष्ट न हो जाय और कुआ अन्त में उसे आशीर्वाद देता हुआ कहता है—'बस, जाओ; विदा!—ईश्वर तुम्हें बल दे।'

इसके उपरान्त पगडंडी विकास करते-करते राजमार्ग बन जाती है। वैभव-विलास उसके चारों ओर बिखरे रहते हैं परन्तु पगडंडी को अतीत की स्मृतियाँ–बट दादा, अमराई, रामी का कुआ की स्मृतियाँ व्याकुल बनाती रहती हैं। वह रामी के कुआ को भुला नहीं पाती। मगर अपनी वेदना भी किसी से कह नहीं पाती। वर्तमान वैभव विलास उसके मधुर अतीत को नष्ट नहीं कर पाता।

बस, कहानी इतनी सी ही है जिसमें न कोई घटनायें हैं, न वातावरण की सृष्टि है और न मनोरंजक वार्तालाप, व्यंग्य, परिहास आदि ही है। फिर भी यह एक कहानी है—नई पद्धति की एक ऐसी कहानी है जो जनता में अधिक प्रचार न पा सकी। सहृदय, प्रबुद्ध पाठक ही ऐसी कहानियों का रसास्वादन करने में समर्थ होते हैं। साधारण पाठक कुछ पंक्तियाँ ही पढ़कर विरक्ति के साथ इसे दूर हटा देता है। ऐसी कहानियों का प्रधान उद्देश्य किसी-न-किसी चिरन्तन सत्य की स्थापना करना होता है। और इस सत्य का उद्‌घाटन दार्शनिक विवेचन, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण आदि द्वारा करने का प्रयत्न किया जाता है। यह आवश्यक नहीं कि इसमें एक ही सत्य, समस्या, प्रश्न या मानसिक स्थिति का चित्रण हो। यह चित्रण एक से अधिक समस्याओं आदि का हो सकता है। प्रस्तुत कहानी में पगडंडी एक कहानी के रूप में अपना प्रेम और कलह, अपना मान और अभिमान, अपना बचपन और यौवन आदि सारी स्थितियों का एक सुसंगत इतिहास कह सुनाती है जिसमें नारी-हृदय की व्याख्या,

प्रेम और सेवा का अन्तर, साध्य और साधन की भिन्नता आदि विभिन्न समस्याओं का चित्रण होता चलता है जिनका पारस्परिक सम्बन्ध ऊपर से देखने पर स्पष्ट तथा संगत नहीं प्रतीत होता परन्तु उनकी अन्तर्धारा एक ही लक्ष्य-विन्दु—सेवा की महत्ता—की ओर प्रवाहित होती रहती है।

पगडंडी के प्रेम की भावना उसके इस वाक्य से प्रकट होती है कि—"मनुष्य के जीवन का इतिहास प्रायः अपने सगों से नहीं, परायों से बनता है।" पगडंडी इस वाक्य द्वारा एक महान् सत्य का उद्घाटन करती है। इसी के कारण पराये नर-नारी आपस में एक-दूसरे के प्रति आकर्षित होते हैं और फिर उन्हीं के मिलन से सृष्टि का इतिहास आगे बढ़ता है। पगडंडी रामी के कुआ से प्रेम करती है और नारी-स्वभाव के वशीभूत हो उससे कलह बढ़ाती है जिससे वह उसे मनाये, उसकी खुशामद करे और फिर दोनों का मिलन हो सके परन्तु रामी का कुआ इस कलह-व्यापार में पूर्ण उदासीन और तटस्थ रहता है यद्यपि अवसर मिलने पर पगडंडी को खिझाने से बाज नहीं आता। पगडंडी उसकी ऊपरी उपेक्षा से चिढ़ जाती है और नारी-हृदय के रहस्य को इन शब्दों प्रकट करती है—

"स्त्री प्रेम से विह्वल हो जाती है और अपने उच्छ्वसित् हृदय के उद्गारों को जब निरुद्ध नहीं कर पाती तब वह झगड़ा करती है।...झगड़ा करके तिनकना, रूठकर रोना, फिर दूसरे को रुलाकर मान जाना, नारी-हृदय का प्रियतम विषय है। पुरुष चाहे कितना ही पढ़ा-लिखा हो, साहित्यिक हो, दार्शनिक हो, तत्वज्ञानी हो, यदि वह इतनी सीधी-सादी बात नहीं समझ पाता तो सचमुच मूर्ख है।

रामी के कुआ का प्रेम प्रच्छन्न रहता है परन्तु वह अपनी बातों से उसका संकेत दे देता है जिसे पगडंडी नहीं समझ पाती। पगडंडी के मोटी होने पर उसका संकेत करना उसके इसी प्रेम को प्रकट करता है।

इसके उपरान्त साधन और साध्य का झगड़ा प्रारम्भ हो जाता है। पगडंडी कुए की नजर में साधन मात्र है और स्वयं साध्य है। पगडंडी इस अपमान से जल उठती है और स्वयं को तुच्छ एवं हीन समझ कर कुए से दूर हटने का उपक्रम करने लगती है। यह स्थिति आ जाने पर कुआ प्रेम और सेवा की

सारगर्भित, दार्शनिक और व्यावहारिक व्याख्या कर प्रेम की तुलना में सेवा को ही मानव-जीवन का चरम लक्ष्य घोषित कर पगडंडी को इसी सेवा-मार्ग पर चलने का उपदेश देता है। इस प्रकार प्रधान रूप से इस कहानी में दो ही तथ्यों का उद्‌घाटन होता है—नारी-हृदय का रहस्य, उसकी प्रेम की स्वाभाविक तड़प तथा प्रेम और सेवा की तुलना। और अन्त में लेखक प्रेम को स्वाभाविक परन्तु अग्राह्य सिद्ध कर सेवा में ही मानव का कल्याण देखता है। यही इस कहानी की संवेदना है और प्रारम्भ से अन्त तक प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से चली आती है और उसका पर्यवसान सेवा की महत्ता में होता है। कहानीकार का यही लक्ष्य है। इसमें अनुभूतियों का चित्रण अवश्य हुआ है। परन्तु दार्शनिकता, तर्क और कवित्वपूर्ण वर्णन उन अनुभूतियों को अधिक संवेदनशील नहीं बनने देते।

इसमें छोटे-छोटे सारगर्भित वाक्यों द्वारा कहानीकार कहानी की मुख्य संवेदना की ओर संकेत करता चलता है, जैसे—प्रेम करने की योग्यता सब में है किन्तु सेवा करने की शक्ति किसी-किसी को ही मिलती है।' 'तुम्हारा कोई नहीं, इसलिए कि सभी तुम्हारे हैं, तुम किसी की नहीं हो, इसलिए कि तुम सभी की हो।' 'तुम्हारी आत्मा सोई हुई थी, केवल शरीर जगा था।' 'जाओ—संसार में जहाँ अधिक-से-अधिक तुम्हारा उपयोग हो सके।' 'तुम अपने ज्योतिर्मय भविष्य में अपने धुँधले अतीत को डुबा देना।' 'प्रेम मनुष्यत्व है और सेवा देवत्व।' आदि—

उपर्युक्त वाक्य रह-रह कर कहानी के प्रधान लक्ष्य—सेवा की महत्ता—को प्रतिष्ठित करते रहते हैं।

क्योंकि यह कहानी कवित्वपूर्ण कल्पना पर आधारित है। इसलिए इसमें काव्य की सी विदग्धता, सौन्दर्य एवं प्रवाह आ गया है और साथ ही काव्य की सी ही जटिलता और अस्पष्टता भी है। इसकी व्यंजना यद्यपि अधिक गूढ़ नहीं है, अन्त तक पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जाती है परन्तु फिर भी पगडंडी अपने उस धुँधले अतीत को भूल नहीं पाती। उसे वही प्यारा और मधुर लगता है। प्रेम की पिपासा उसमें अब भी है। उसका यही द्वन्द्व इस कहानी के सौन्दर्य में चार चाँद लगा देता है और साथ ही उसे साधारण पाठक के लिए काव्य

के समान अस्पष्ट भी बना देता है। इसका अन्त इसकी सम्पूर्ण दार्शनिकता, तर्क आदि की नीरसता को समाप्त कर हृदय में एक टीस उत्पन्न कर देता है। सचमुच, अतीत को भुला देना मानव की शक्ति से परे है। यही स्वाभाविकता इसको कलात्मक सौन्दर्य प्रदान कर देती है।

भाषा कहीं-कहीं काव्यमयी, सुललित और अलंकारमयी है परन्तु साधारणतः उसमें सरलता और प्रवाह का ध्यान रखा गया है। कहीं-कहीं लम्बे-लम्बे वर्णन और व्याख्यायें नीरसता उत्पन्न कर देती हैं। शैली में दुरूहता न होकर सादगी और स्पष्टता है। कवित्वपूर्ण कल्पना का अत्यधिक उपयोग होते हुए भी भाषा और शैली में अस्पष्टता प्रायः नहीं ही आ पाई है। वार्तालाप और वातावरण का ऐसी कहानियों में कोई विशेष महत्व नहीं होता। हिन्दी में इस पद्धति की कहानियाँ बहुत कम पाई जाती हैं।

यशपाल

हिन्दी के क्रान्तिकारी लेखक यशपाल सच्चे अर्थों में प्रेमचन्द के पूर्ण सफल और एक मात्र उत्तराधिकारी कहानीकार हैं । इस तथ्य को हिन्दी के अनेक आलोचकों ने स्वीकार किया है । डा० प्रभाकर माचवे ने लिखा था कि—"प्रेमचन्द के बाद उतने ही यथार्थवादी, आकर्षक सजीव वर्णन इनमें ही मिलते है ।" शान्तिप्रिय द्विवेदी ने कहा था कि—"प्रेमचन्द के बाद यशपाल सही माने में जन-साधारण के लिए कथा साहित्य का प्रतिनिधित्व करते हैं । उनकी रचनायें एक ओर साहित्य को लिए हुए हैं, दूसरी ओर जनता के लिए भी कम आकर्षक नहीं । भाषा और शैली की दृष्टि से ऐसा जान पड़ता है कि मानो प्रेमचन्द ही नए युग में नया शरीर धारण कर पुनः सजीव होगए हों ।···कथानक, चित्रण, चरित्रांकन और शैली की दृष्टि से यशपाल, एक शब्द में प्रेमचन्द की तिरोहित प्रतिभा की तरुण शक्ति हैं ।"

वस्तुतः यशपाल प्रेमचन्द की तिरोहित प्रतिभा की तरुण शक्ति ही हैं । क्योंकि प्रेमचन्द अपने जीवन के अन्तिम काल में आदर्श का मोह त्याग कर यथार्थ के जिस वास्तविक और स्वस्थ रूप की ओर बढ़ रहे थे और अचानक मृत्यु ने आकर उनके इस कार्य को अधूरा ही रोक दिया था, यशपाल ने प्रेमचन्द के उसी अधूरे कार्य को ही पूर्णता और विकास की ओर आगे बढ़ाया है । उन्होंने प्रेमचन्द से प्रेरणा ली, प्रभाव ग्रहण किया और उनके उस अधूरे कार्य को एक सर्वथा नवीन और अदम्य उत्साह और शक्ति के साथ पूरा किया । उनके इस कार्य में नवीनता थी, मौलिकता थी, प्रेमचन्द का अन्धानुकरण कहीं भी नहीं था । विषय, कथानक, सन्देश, उद्देश्य, शैली, भाषा आदि सभी क्षेत्रों में यशपाल अपनी मौलिकता लेकर आए थे ।

अपनी कहानियों द्वारा यशपाल ने हिन्दी-कहानी की सामान्य मानववादी परम्परा को नई सामाजिक-राजनीतिक चेतना देकर ऊंचे धरातल पर उठाया है। विचार से यशपाल मार्क्सवादी हैं। वे मार्क्सवादी हैं इसलिए समाज और व्यक्ति की नई-पुरानी, मौलिक-अमौलिक सभी प्रकार की समस्याओं के मूल-कारण और उनकी व्यापकता और गहराई तक पहुँच जाते हैं। मार्क्सवादी विचारक की यह विशेषता होती है कि वह समस्याओं का गहराई से विश्लेषण कर उनके मूल-कारणों की तह तक पहुँच जाता है और तब उसका हल प्रस्तुत करने का प्रयत्न करता है। समाज का पेचीगदी से भरा हुआ रूप अन्य विचारकों को विषमता और विकृति के मूल कारणों तक न पहुँचने देकर बीच में उलझा लेता है इसी कारण ऐसे विचारक समस्याओं का सही हल प्रस्तुत करने में असमर्थ रहते हैं। मार्क्सवादी अपने सम्मुख एक 'विजन' (Vision) को लेकर चलता है, इसीलिए उसके निष्कर्ष या संकेत अधिक व्यावहारिक रहते है। यशपाल हिन्दी के ऐसे ही मार्क्सवादी कहानीकार है। सुप्रसिद्ध प्रगतिशील आलोचक शिवदान सिंह चौहान ने यशपाल की इसी विशेषता का उद्घाटन करते हुए लिखा है—

''उनका मार्क्सवादी दृष्टिकोण इन समस्याओं के मूल-कारणों तक पहुँचने में सहायक होता है और उनकी विशेषता यह है कि वे आद्यन्त कलाकार बने रहते हैं, परिस्थितियों और उनके मध्य संघर्ष करने वाले चरित्रों के कार्य—व्यापार के स्वाभाविक उद्घाटन से वह सामाजिक जीवन और मनुष्य के मनोगत भावों और द्वन्द्वों का चित्रण करते हैं।"

इसके उपरान्त चौहान ने उस मूल समस्या का विश्लेषण करते हुए, जो यशपाल ने अपने सम्पूर्ण साहित्य में उठाई है, लिखा है—

"यशपाल की मूल समस्या यह है कि समाज के विषम संगठन ने मनुष्य-जाति को ही दो विरोधी वर्गों में नहीं बाँटा है, बल्कि मनुष्य के विचार और व्यवहार या आचरण में भी एक द्वैत या वैषम्य पैदा कर दिया है। इस द्वैत या वैषम्य के प्रति पाठकों को सचेत करना ही यशपाल का प्रधान उद्देश्य है।" और इससे यह होगा कि—"यह चेतना जनता में उस सामाजिक क्रियाशीलता को जन्म देगी जो सामाजिक वैषम्य का तो अन्त करेगी ही, 'ऊँच विचार नीच

करतूतों के वैषम्य का भी अन्त कर देगी। तभी मनुष्य का बाह्य और आन्तरिक जीवन पूर्ण स्वास्थ्य का लाभ कर सकेगा।"

ऐसी प्रशंसा और ख्याति के अधिकारी यशपाल अपने बाल्यकाल से ही क्रान्तिकारी रहे हैं, गिरफ्तार हुए हैं, सजा भोगी है और अपने उसी क्रांतिकारी व्यक्तित्व को साहित्य में लाकर साहित्यिक-क्षेत्र में अपूर्व कला और प्रसिद्धि के भोक्ता बने हैं। उन्होंने जेल में रहते हुए अध्ययन किया और वहीं से कहानियाँ लिखना प्रारम्भ किया परन्तु उनका सुश्रृंखलित साहित्यिक जीवन सन् १९३८ से ही प्रारम्भ हुआ मानना चाहिए जब वे जेल से छूट कर बाहर आए और बाहर आकर उन्होंने 'विप्लव' नामक प्रसिद्ध मासिक-पत्र का प्रकाशन और सम्पादन प्रारम्भ किया। 'विप्लव' द्वारा ही हिन्दी के पाठकों को यशपाल का पूरा परिचय प्राप्त हुआ। तब से लेकर आजतक यशपाल ने इतने उपन्यास, कहानियाँ, निबन्ध आदि लिखे हैं कि उनकी संख्या को देखकर साहित्य के इस अथक सेवी की सृजनात्मक-शक्ति पर आश्चर्य होने लगता है। अबतक इनके लगभग आठ उपन्यास, बारह कहानी-संग्रह, नौ विचारात्मक निबन्धों के संग्रह, तीन भागों में लिखा गया अपना आत्म-चरित्र—'सिंहावलोकन' और एकांकी नाटकों का एक संग्रह, आदि अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। साथ ही अनेक अनुवाद भी किए हैं। बीस-बाईस वर्ष के अल्पकाल में इतने विशाल साहित्य की रचना अद्‌भुत प्रतिभाशाली और कर्मठ कलाकार ही कर सकते हैं।

यहाँ हमारा मूल विवेच्य कहानीकार यशपाल हैं इसलिए हम अपने को इसी सीमा तक सीमित रखने का प्रयत्न करेंगे। यशपाल के अब तक प्रकाशित कहानी-संग्रहों को काल-क्रमानुसार इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

१—पिंजरे की उड़ान (१९३९), २—वो दुनिया (१९४२); ३—ज्ञानदान (१९४३) ४—अभिशप्त (१९४४), ५—तर्क का तूफान (१९४४), ६—भस्मावृत्त चिनगारी (१९४६), ७—फूलो का कुर्त्ता (१९४९), ८—धर्मयुद्ध (१९५०), ९—उत्तराधिकारी (१९५१), १०—चित्र का शीर्षक (१९५१), ११—तुमने क्यों कहा था कि मैं सुन्दर हूँ (१९५४), १२—उत्तमी की माँ (१९५५) इन समस्त कहानी-संग्रहों में संग्रहीत कहानियों में भाव-प्रधान, विचार-प्रधान और यौन-प्रधान आदि कई प्रकार को कहानियाँ हैं।

यशपाल की कहानी-कला का विवेचन करने से पूर्व हमें उनके विचारों को समझ लेना चाहिए। विचार की दृष्टि से यशपाल मार्क्सवादी हैं। मार्क्सवाद में उनकी आस्था दृढ़ है। उन्होंने एक स्थान पर इस बात को स्पष्टता के साथ स्वीकार करते हुए लिखा है—"मैं सर्व-साधारण जनता को शोषित और अन्याय-पीड़ित समझता हूँ। इस अन्याय से जनता की मुक्ति का उपाय कम्यूनिज्म की द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी विचारधारा को मानता हूँ।" वे इसी सिद्धांत में विश्वास करते हैं और उनकी कहानियों में इसी का प्रयोगात्मक रूप मिलता है। उनके ये विचार परिस्थितियों से उद्भुत हुए हैं। वे विचारों की स्वतंत्र सत्ता को स्वीकार न कर उन्हें परिस्थितियों से प्रगाढ़ रूप से सम्बद्ध मानते हैं। उनके मतानुसार जीवन और विचारों में गहरा सम्बन्ध रहता है—

"जीवन के बिना विचारों की कल्पना करना सम्भव नहीं, इसलिए जीवन से स्वतंत्रता की बात करना भी युक्त-संगत नहीं जान पड़ता। आर्थिक परिस्थितियों के अनुसार जिस समाज का जीवन जिस ढंग का होता है उस समाज के विचार भी उसी ढग के होते हैं।" यशपाल के इस मन्तव्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि कलाकार के भाव या विचार सदैव उसकी तथा उसके समाज की विषम परिस्थितियों से ही बनते हैं। उसके विचार काल्पनिक और हवाई नहीं होते। यदि ऐसा होता है तो वह कलाकार सच्चा नहीं है। इसी कारण यशपाल का सम्पूर्ण साहित्य जीवन की वास्तविकता और विषमता के चित्रण से ओतप्रोत है और यही कारण है कि हमें उनके साहित्य में घोर यथार्थ के दर्शन होते है।

यशपाल की कला-सम्बन्धी मान्यताएँ भी इसी कारण पूर्ण यथार्थवादी हैं। वे कला को जीवन से अलग काट कर देखने के समर्थक नहीं हैं। उनके मतानुसार कला समय, स्थान और सामाजिक परिस्थितियों से प्रभावित होती रहती है और वही कला सच्ची कला है जो इस प्रभाव को ग्रहण कर अपना स्वरूप निर्धारित करती है। वे कला को निरुद्देश्य न मानकर सोद्देश्य मानते हैं। भाव-शून्य और सन्देश-शून्य कला का उनकी दृष्टि में कोई मूल्य नहीं है। उनका कहना है कि—

"कला और साहित्य का उद्देश्य सभी अवस्थाओं में नैतिकता और कर्त्तव्य

की प्रवृत्तियों की चिनगारियों को भावना की फूँक मार कर सुलगाना ही रहता है। अन्तर रहता है हमारे विश्वास और दृष्टिकोण में। कभी हम समझते हैं, इन चिनगारियों से निकली ज्वाला प्रकाश का मार्ग दिखलायेगी, कभी हम समझते हैं, यह ज्वाला हमारे समाज की रक्षा करने वाले छप्पर को फूँक कर राख कर देगी।'' इस प्रकार कला एक तरफ तो सृजन करती है, पथ-प्रदर्शन करती है, नैतिक मूल्यों को उत्कर्ष देती है और दूसरी तरफ विकृतियों को नष्ट कर विनाश करती है। अतः कला का उद्देश्य सत् का सृजन और समर्थन तथा असत् का विनाश और निरोध करना रहता है।

यशपाल के कहानी-साहित्य में उनकी कला इन दोनों रूपों में मिलती है जो परस्पर एक दूसरे से प्रगाढ़ रूप से सम्बद्ध हैं। उनकी कहानियाँ समाज और जीवन की समस्याओं का चित्रण करती हैं। यशपाल कहानी को एक सामाजिक चित्र मानते हैं जिसके द्वारा पाठक सामाजिक आवश्यकताओं के अनुकूल कहानीकार के साथ अपने विचारों और अनुभूतियों का आदान-प्रदान करते हैं। इसलिए कहानी के द्वारा कहानीकार और उसके पाठकों दोनों में ही अनुभूतिगम्य आत्मीयता का होना आवश्यक है। कहानीकार सामाजिक होता है, समाज के प्रति उत्तरदायी होता है इसलिए कहानी का प्रयोजन स्वयं कहानी ही न होकर सामाजिक होता है। जो कहानीकार अपनी कहानियों द्वारा सामाजिक विकृतियों को दूर कर समाज में सुव्यवस्था और सुरुचि का प्रचार करने का प्रयत्न नहीं करता वह अपने सामाजिक उत्तरदायित्व से भागता है। कहानी अपने इसी सामाजिक स्वरूप के कारण पाठक और कहानीकार दोनों को एक प्रगाढ़ सामाजिक बन्धन में आबद्ध कर देती है। अत: कहानी का प्रधान लक्ष्य मनोरंजन नहीं माना जा सकता। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि कहानी अरुचिकर, नीरस या बोझिल हो। कहानी क्योंकि सरस साहित्य का एक अंग है इसलिए उसे रोचक और प्रभावशाली होना ही चाहिए। संक्षेप में यशपाल कहानी को जीवन की समस्याओं को सुलझाने का साधन मानते हैं। अत: उनकी दृष्टि में कहानी साध्य न होकर किसी महत् उद्देश्य का प्राप्त करने का साधन मात्र है।

हम ऊपर कह आए है कि यशपाल मार्क्सवादी कहानीकार हैं। मार्क्सवादी

लेखक जनता के दुख-दर्द और उसकी समस्याओं का चितेरा होता है। साथ ही वह शोषकों और अत्याचारियों के कुकर्मों को ही जनता के दुख-दर्द का मूल कारण मान उनके असली जघन्य रूप का उद्घाटन करता है। यशपाल की कहानियों में ये दोनों पक्ष चित्रित हुए हैं। परन्तु यशपाल के कथा-साहित्य का एक पक्ष ऐसा और है जिसके कारण उन्हें आदर्शवादी एवं मार्क्सवादी दोनों ही प्रकार के आलोचकों की भर्त्सना का पात्र बनना पड़ा है और वह है उन पर फ्रॉयड का प्रभाव। समष्टि रूप से यशपाल उन मार्क्सवादी लेखकों की कोटि में आते हैं जिनका रूसी राज्यक्रान्ति के बाद रूसी कथा-साहित्य में प्राबल्य रहा था और जिनकी यौन वर्जनाओं के चित्रण से क्षुब्ध होकर लेनिन को मार्क्सवाद और फ्रॉयडवाद का अन्तर स्पष्ट करना पड़ा था। मार्क्सवाद समाजवादी विचार धारा है और फ्रॉयडवाद व्यक्तिवादी। इसलिए इन दोनों का समन्वय नहीं हो सकता। यशपाल ने अपने कथा-साहित्य में इन दोनों का समन्वय करने का प्रयत्न किया था और कहीं-कहीं तो उन्होंने ऐसा चित्रण किया है कि वहाँ मार्क्सवाद बुरी तरह से दब गया है और फ्रॉयडवाद उस पर हावी हो गया है। इस फ्रॉयडवाद के प्रभाव के कारण उनके कुछ प्रारम्भिक उपन्यासों, जैसे 'दादा कामरेड' और 'देशद्रोही' आदि तथा कुछ कहानी-संग्रहों में, जैसे फूलो का कुर्त्ता, 'चिनगारी' आदि में यौन-भावना का अत्यन्त अश्लील चित्रण हुआ है जिसके कारण इनके इस साहित्य में वही रंग आ गया है जिसके लिए अज्ञेय, इलाचंद्र जोशी और जैनेन्द्र बदनाम है। यदि यशपाल के कथा-साहित्य में से फ्रॉयड के इस कुंठावाद को निकाल दिया जाय तो उनका कथा-साहित्य सामाजिक यथार्थवाद का पूर्ण प्रतिनिधित्व कर सकता है। अज्ञेय, जैनेन्द्र आदि से यशपाल बहुत आगे हैं। यशपाल का दृष्टिकोण विशुद्ध रूप से सामाजिक यथार्थवादी, निर्वैयक्तिक और प्रगतिशील है जब कि जैनेन्द्र और अज्ञेय आदि वैयक्तिक साधनाओं के कलाकार हैं जिन्हें मार्क्सवादी दृष्टि से प्रतिक्रियावादी माना जा सकता है।

परन्तु अपने इधर के कथा-साहित्य में यशपाल फ्रॉयड के प्रभाव से मुक्ति पाते हुए दिखाई पड़ते हैं। उनकी इधर हाल की कुछ कहानियों तथा उनके नवीनतम वृहद् उपन्यास 'झूठा सच' में फ्रॉयड पूर्ण रूप से दब गया है और

मार्क्स उभर कर ऊपर आ गया है। 'झूठा सच' 'गोदान' के उपरान्त हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है। फ्रॉयड के इस प्रभाव से मुक्ति पाने के उपरान्त यशपाल की कहानी-कला अपने नए रूप में निखर उठी है।

यशपाल कथा-साहित्य में नवीन युग का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं। अपनी कहानियों द्वारा उन्होंने वर्तमान समाज और राजनीति की समस्याओं के खंडचित्रों को साकार किया है। इनमें उन्होंने समाज और जीवन के उन यथार्थ पहलुओं का चित्रण किया है जो हमारे विकास में बाधक बने हुए हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध के उपरान्त भारतीय-जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। भारत स्वतंत्र हुआ, देश में कांग्रेस का शासन स्थापित हुआ जिसकी बागडोर अप्रत्यक्ष रूप से देशी और विदेशी पूंजीपतियों के हाथ में रही। नई नेताशाही ने जनता की उपेक्षा कर केवल अपना या अपने वर्ग का ही स्वार्थ साधा। जनता जैसे अँग्रेजों के राज्य में उपेक्षित थी, वैसे ही कांग्रेजी राज्य में भी वैसी ही उपेक्षित रही। प्रेमचन्द के शब्दों में 'जान' को जगह 'गोविन्द' आ बैठा, टोप का स्थान गांधी-टोपी ने ले लिया। परन्तु समय की तीव्र गति ने, नवीन आर्थिक ढांचे ने, जीवन के प्रति नए दृष्टिकोण ने जनता के जीवन को झकझोर डाला। पुरानी परम्परागत मान्यतायें तेजी से नष्ट होने लगी। हम बदल रहे थे, और नवीन युग को नवोन आवश्यकताओं को पहचान रहे थे। यशपाल के साहित्य में भारतीय जीवन और समाज में हो रहे इन नवीन परिवर्त्तनों का स्वर बुलन्द हुआ। उन्होंने आर्थिक विषमता की चक्की में पिसती भारतीय जनता की कराह को सुना और अपनी सशक्त लेखनी द्वारा जनता की मुसीबतों के इस रूप का यथार्थ चित्र अङ्कित कर इसके मूल कारणों का पर्दाफाश किया। जिस कार्य को प्रेमचन्द अधूरा छोड़ गए थे उसे यशपाल ने आगे बढ़ाया। इसी कारण हम यशपाल को इस नवीन युग का नेता मानते हैं। विरोधियों ने उन्हें मार्क्सवाद का प्रचारक घोषित किया, हमारी पुरानी संस्कृति का हत्यारा बताया परन्तु महान आत्माओं का अपने युग में सदैव उग्र विरोध हुआ है फिर भी उनके चरण कभी नहीं डगमगाये।

हम ऊपर कह आए हैं कि यशपाल ने प्रेमचन्द के अधूरे छोड़े कार्य को पूर्ण किया है। परन्तु दोनों के युगों में अन्तर है इसलिये उनकी कार्य-दिशायें

भी भिन्न हैं। यशपाल ने प्रेमचन्द-युग और अपने युग का अन्तर स्पष्ट करते हुए लिखा है—

"प्रेमचन्द जी के समय हमारा समाज सामन्तवादी युग के शोषण की अंतिम अथवा पूंजीवादी शोषण के युग की आरम्भिक अवस्था में था। प्रेमचन्द जी ने इस युग में पैदा होते ही वैषम्य और शोषण की आशंकाओं के प्रति एक चेतावनी दी थी। समाज विकास और परिवर्त्तन की स्वाभाविक गति से पूंजीवाद शोषण की उत्कट और परिपक्व अवस्था में पहुँच गया है, इसलिए आज का उपन्यास-लेखक शोषण से, पीड़ा से, चिल्लाकर मुक्ति की माँग कर रहा है। प्रेमचन्द जी और आज के लेखक की लेखन-वस्तु में उतना ही परिवर्तन हुआ है जितना कि प्रेमचन्द जी के समय और आज की आर्थिक और भौतिक परिस्थितियों में हुआ है।" इसी कारण यशपाल के साहित्य में वर्तमान पूंजीवाद के निर्मम शोषण से त्रस्त हमारे सामाजिक जीवन की उसी आर्त्त पुकार का स्वर फूटा है जिसमें पीड़ा है और साथ ही इस वर्तमान व्यवस्था के प्रति भयङ्कर आक्रोश भी है।

यशपाल और प्रेमचन्द में एक अन्तर और है। प्रेमचन्द ग्रामीण जीवन के ही प्रमुख रूप से कलाकार थे यद्यपि नागरिक जीवन भी उनके कथा-साहित्य में आया है। परन्तु यशपाल मुख्यरूप से मध्यवर्ग के कलाकार हैं और मध्यवर्ग भारत के नगरों में रहता है। इसलिए यशपाल नगरों तक ही सीमित रह गए हैं और किसानों की समस्याओं पर प्रकाश नहीं डाल सके हैं।

यशपाल की कहानी-कला पर जब हम दृष्टिपात करते हैं तो पाते हैं कि उनके द्वारा रचित सम्पूर्ण कहानी-साहित्य में उनके व्यक्तित्व, दृष्टिकोण और शिल्प-विधान का निरन्तर क्रमिक विकास होता चला गया है। उनकी प्रारम्भिक कहानियों 'पिंजरे की उड़ान', 'ज्ञान दान' 'वो दुनिया' आदि में भावात्मकता का प्राधान्य है। उनकी मध्यकाल की कहानियों में यह भावुकता कम होगई है और यौन-समस्या तथा यौन-सम्बन्धों का चित्रण प्रधान हो उठा है। इनमें अश्लील चित्रण खूब हुए हैं यद्यपि सामाजिक यथार्थवाद की पृष्ठभूमि पर ही। नारी के दयनीय रूप का और उसके भयङ्कर शोषण का इन कहानियों में कलात्मक चित्रण हुआ है। और इन्हीं कहानियों द्वारा यशपाल को बदनामी भी खूब

मिली है। अभिशप्त, तर्क का तूफान, चिनगारी, भस्मावृत, फलो का कुर्त्ता आदि कहानी-संग्रहों में इसी प्रकार की यौन-प्रधान कहानियों की बहुलता है। इसके उपरान्त यशपाल की वे कहानियाँ सामने आती हैं जो विचार-प्रधान हैं। 'धर्म युद्ध', 'उत्तमी की माँ' आदि उनकी इसी प्रकार की विचार प्रधान कहानियाँ हैं। इनमें यौन-चित्रण कहीं-कहीं ही आया है। इनमें न तो प्रारम्भिक कहानियों की सी भावुकता ही है और न सेक्स की प्रधानता। इनमें यशपाल का मानसिक सन्तुलन, संयम और स्थिरता दर्शनीय है। आजकल यशपाल इसी प्रकार की विचार प्रधान कहानियाँ लिख रहे हैं।

यशपाल की समस्त कहानियों का धरातल निर्वयक्तिक सामाजिक शक्तियाँ रहा है। उनका मूलाधार आर्थिक विषमता है क्योंकि यशपाल मूलतः मार्क्सवादी हैं। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद उनकी कहानी-कला की मूल प्रेरणा रहा है। उन्होंने समाज के दो पक्षों को लिया हैं—आर्थिक और साँस्कृतिक। आर्थिक पक्ष में उन्होंने समाज को दो वर्गों में विभक्त किया है—शोषक और शोषित। इसी दृष्टि से भारतीय समाज का अध्ययन किया गया है। साँस्कृतिक पक्ष में उन्होंने पुरानी सड़ी-गली सामाजिक रूढ़ियों, परम्पराओं, मान्यताओं, धार्मिकता आदि का विरोध करते हुए नवीन युग की नवीन साँस्कृतिक मान्यताओं की प्रतिष्ठा की है जो आधुनिक आर्थिक शक्तियों की देन है। इसके अतिरिक्त उन्होंने सामाजिक स्त्री-पुरुष के पारस्परिक सम्बन्धों का चित्रण मनोविश्लेषण और व्यक्ति की कर्म-प्रेरणाओं के आधार पर किया है। यहाँ भी अप्रत्यक्ष रूप से वही आर्थिक विषमता ही दिखाई पड़ती है। कुछ आलोचकों की राय है कि यशपाल ने मार्क्सवाद को गलत समझा है इसलिए वे उसका वास्तविक रूप उपस्थित न कर उसका विकृत रूप ही प्रस्तुत कर सके हैं। और यह आक्षेप उनकी अनेक कहानियों में नग्न-अश्लीलता को देखकर ही किया गया है। यशपाल द्वारा किए गए यौन-सम्बन्धों के अतिरंजित वर्णन वस्तुतः उन्हें अज्ञेय आदि कहानीकारों की पंक्ति में ला बैठाते हैं।

कहानी-कला की दृष्टि से यशपाल की कहानियों में विचार और कला दोनों का ही अपना-अपना महत्व है। यशपाल समाज के सजग द्रष्टा हैं इसलिए विचारशील हैं, साथ ही वे एक अत्यन्त उच्चकोटि के मँजे हुए कलाकार भी हैं

इसलिए विचार और कला का यह समन्वय उनकी कहानियों में प्रभाव डालने की एक अद्भुत शक्ति उत्पन्न कर देता है। वे मार्क्सवादी लेखक हैं, इसलिए यथार्थवादी हैं परन्तु उनका यथार्थवाद कथाकार की मनोरम कल्पना का सहयोग पाकर और भी अधिक खिल उठता है। उनकी कल्पना कहीं भी यथार्थ से विच्छिन्न नहीं हो पाती। उन्होंने आँख खोलकर समाज को देखा है, समझा है और जो कुछ देखा और समझा है उसी को अपने अनुभवों के बल से, कल्पना की सहायता द्वारा कहानियों के रूप में प्रस्तुत कर दिया है। उनकी कल्पना सर्वत्र साधार रही है। इसीलिए यशपाल की कहानियाँ कल्पना-लोक के चित्र न होकर हमारे यथार्थ सामाजिक जीवन के सजीव चित्र सी प्रतीत होती हैं और वैसा ही प्रभाव डालती हैं। इसी कारण यशपाल की कहानियों में न कहीं उलझे हुए कथानक मिलते हैं, न विशिष्ट व्यक्तिवादी चरित्रों के दर्शन होते हैं और न कहीं मनोविश्लेषण की जटिलता भरी ऊहापोह ही दिखाई पड़ती है। वे यथार्थवादी कथाकार हैं इसलिए उनकी कथाओं में सभी कुछ यथार्थ है।

कथानक-निर्माण की दृष्टि से यशपाल के कथा-विधान में विभिन्न प्रकार के प्रयोगों और विविधता आदि के प्रति कोई विशेष मोह नहीं दिखाई पड़ता। समष्टि रूप से उनकी कहानियों के कथानक दो प्रकार के मिलते हैं—छोटे, सूक्ष्म और अपूर्ण से, तथा लम्बे, इतिवृत्तात्मक और पूर्ण। जो कहानियाँ मानसिक विश्लेषण या व्यक्ति के संघर्ष को लेकर लिखी गई हैं उनके कथानक छोटे, सूक्ष्म और अन्त में ऐसे लगते हैं कि कथा पूर्ण नहीं हुई है। ऐसे कथानकों में एकाध घटना अथवा कार्य-संकेत मात्र होते हैं। 'रोटी का मोल', 'आदमी का बच्चा', 'काला आदमी' आदि कहानियों के कथानक इसी प्रकार के हैं। दूसरे प्रकार की कहानियाँ वे हैं जिनमें "व्यापक जीवन-संघर्ष और मनुष्य के कार्यों और कर्म-प्रेरणाओं" का चित्रण हुआ है। इनके कथानक लम्बे, इतिवृत्तात्मक और पूर्ण हैं। इनमें काफी लम्बा समय, अनेक घटनाओं, कार्य-व्यापारों आदि का समावेश रहता है। 'हिंसा', 'फूलो का कुर्ता', 'दास धर्म' आदि इसी प्रकार के लम्बे कथानकों वाली कहानियाँ हैं। ऐसे कथानक इतिहास, पुराण, समाज और कल्पना-जगत से लिए गए हैं।

चरित्र की दृष्टि से इनके सभी चरित्र "सर्वथा सर्व साधारण, यथार्थ और

मानव-संघर्षों के प्रतीक होते हैं। इसका सबसे बड़ा कारण यही है कि इन्होंने अपनी कहानियों में अधिक से अधिक वर्गों, जातियों, उम्रों और स्थितियों के चरित्रों को लिया है। चरित्र-चित्रण और व्यक्तित्व-प्रतिष्ठा इनके चरित्रों में प्रायः सर्वत्र हुआ है। इनके चरित्रों के व्यक्तित्व में संघर्ष और विद्रोह दोनों पक्ष विशिष्ट हैं। इन पक्षों से इन्होंने पूर्ण यथार्थवादी चरित्रों की अवतारणा की है।" (डा० लक्ष्मी नारायण लाल)

यशपाल के सम्पूर्ण चरित्र अज्ञेय और जैनेन्द्र के चरित्रों की भाँति विशिष्ट नहीं हैं। परन्तु अपनी सर्व-साधारणता में वे कहानी के मूल उद्देश्य को स्पष्ट करने में पूर्ण समर्थ रहते हैं। यशपाल का मुख्य उद्देश्य चरित्र-चित्रण करना न रह कर चरित्रों के माध्यम से कहानी की मूल संवेदना को स्पष्ट करना ही रहता है। उनमें अज्ञेय और जैनेन्द्र के चरित्रों की सी पराजय और समझौते की भावना न रह कर सर्वत्र एक विद्रोह, संघर्ष और परिस्थितियों पर विजय प्राप्त करने की अदम्य आकांक्षा और उत्साह भरा रहता है। यथार्थवादी चरित्रों की यही विशेषता रहती है। यशपाल के नारी-चरित्र भी इसी संघर्ष और विद्रोह के प्रतीक हैं। उनकी नारियाँ नारी-जीवन की नई मान्यताओं को अपना कर चलने की इच्छुक रहती हैं। वे पुरुष की रंगीली गुड़िया न बन कर उसकी जीवन-संगिनी बनना चाहती हैं। समाज की वर्तमान व्यवस्था के प्रति उनके हृदय में भयंकर आक्रोश और विद्रोह छाया रहता है।

शैली की दृष्टि से यशपाल की कहानियों में मनोवैज्ञानिक कहानीकारों के समान शिल्प-विध के विभिन्न प्रयोगों के प्रति कोई मोह नहीं दिखाई पड़ता। उनकी शैली सर्वत्र एक सी ही रही है। कथानक, संवाद और चरित्र-चित्रण—कथा साहित्य के इन तीनों प्रमुख तत्वों का उनकी कहानियों में अपूर्व कलात्मक तादात्म्य मिलता है। "सम्पूर्ण कहानी अपने आरम्भ, विकास और अन्त में इतनी कलात्मकता के साथ गुँथी रहती है कि इन भागों को एक दूसरे से अलग करना कठिन हो जाता है। अतएव इनकी कहानियों के ग न में प्रभाव की तीव्रता अधिक है।" इनकी कहानियों का आदि और अन्त तो विशेष रूप

से कलात्मक और प्रभावशाली रहता है। इस आदि और अन्त का विवेचन करते हुए एक आलोचक ने लिखा है—

"जैसे कबड्डी का खिलाड़ी झुकने का नाट्य किसी ओर करे और छू दे किसी और को, वैसे ही यशपाल की कहानियों का आरम्भ और अन्त हुआ है। पाठक का हृदय किसी परिणाम को सोचता रहता है किन्तु आकांक्षा के प्रतिकूल यह दूसरा अन्त देखकर चौंक पड़ता है। वे अपनी कहानी का पूरा मोह अन्त तक की पंक्तियों के लिये सुरक्षित रखते हैं।"

लक्ष्य और अनुभूति की दृष्टि से यशपाल का समस्त कहानी-साहित्य लक्ष्यात्मक है। और इस लक्ष्य में वर्ग-चेतना पर आधारित आर्थिक संघर्ष ही प्रधान है। यथार्थवादी समाजवादी होने के कारण उनका लक्ष्य प्राचीन मान्यताओं, मूल्यों आदि का खंडन कर नवीन युग के नवीन मूल्यों की स्थापना करना रहा है। सभ्यता, संस्कृति, धर्म, आस्था आदि सभी बातों को इन्होंने प्रेमचन्द के समान इसी दृष्टि से देखा है। लक्ष्य की यह प्रधानता उनकी कहानियों में सर्वत्र मिलती है। अनुभूति की प्रेरणा केवल चरित्र-विश्लेषण में ही दिखाई पड़ती है। आर्थिक दर्शन की प्रधानता हमारे नैतिक प्रश्नों और सामाजिक मान्यताओं पर प्रकाश डालती हुई हमारे सामने नई-नई समस्यायें खड़ी कर हमें अपनी मान्यताओं के प्रति पुनः विचार करने के लिए प्रेरित करती है। इसी लक्ष्य की महानता के कारण यशपाल को प्रेमचन्द का उत्तराधिकारी माना जाता है। परन्तु यशपाल का यह लक्ष्य या सन्देश कहानी की सतह पर उभरा हुआ नहीं दिखाई पड़ता। हमें कहानी पढ़ कर सोचना पड़ता है और तभी हम निष्कर्ष निकाल पाने में समर्थ होते हैं। इस सन्देश में सड़ी गली पुरानी रूढ़ियों के विनाश और समाज और व्यक्ति के नव निर्माण की प्रेरणा भरी रहती है।

भाषा की दृष्टि से यशपाल प्रेमचन्द के ही अनुयायी प्रतीत होते हैं। उन्होंने अपनी कहानियाँ जनता के लिए लिखी हैं, केवल प्रबुद्ध पाठकों के लिए ही नहीं, अतः उन्होंने जन साधारण की बात जन-साधारण की ही भाषा में कही है। और अपनी इस भाषा का स्वरूप उन्होंने सर्वत्र स्थान, काल और पात्र की प्रकृति के अनुरूप ही रखा है। यह भाषा सर्वत्र संवेदना के अनुकूल

रहती है। अपनी इस स्वाभाविकता के कारण यशपाल के गद्य में प्रेमचन्द के ही समान एक अपूर्व सौन्दर्य आगया है। वे भाषा के साथ खिलवाड़ करने में विश्वास नहीं रखते। वे भाषा को अभिव्यक्ति का माध्यम मात्र मानते हैं, इसलिए ऐसी भाषा का प्रयोग करते हैं जो सर्वसाधारण की होती है, जिसमें सर्व साधारण में प्रचलित हिन्दी, उर्दू, अंग्रेजी आदि, सभी भाषाओं के शब्दों का, मुहावरों-कहावतों का प्रयोग होता है। इस भाषा की सबसे बड़ी शक्ति उसकी व्यंजना शक्ति है।

यशपाल क्योंकि यथार्थवादी कहानीकार हैं, समाज के आलोचक हैं, इसलिए उनकी कहानी-कला में व्यंग्य अपने उत्कृष्टतम रूप में आता है। और उनका यह व्यंग्य निरुद्देश्य न होकर सर्वत्र सोद्देश्य रहता है। इस व्यंग्य में एक तीखी चुभन होती है, यह पाठकों में क्षोभ, आक्रोश और करुणा के मिले-जुले भाव उत्पन्न करता है। इसकी प्रहार करने की शक्ति उस समय अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है जब यशपाल किसी सामाजिक अन्याय का चित्रण करते हैं। यह व्यंग्य पाठकों को हँसाता नहीं वरन् अपने तीखेपन के कारण उनमें क्रोध और करुणा के भाव पैदा कर देता है। प्रो० वासुदेव ने आचार्य नरेन्द्रदेव का एक उद्धरण उद्धृत कर इस व्यंग की तीक्ष्णता पर प्रकाश डाला है। उक्त उद्धरण इस प्रकार है—

"यशपाल की कहानियों या लेखों को पढ़कर आपके होठों पर जो मुस्कराहट आएगी वह आत्म-विस्मृति और आनन्दोल्लास की न होकर क्षोभ, परिताप और करुणा की होगी। ...लेखक आत्म-विस्मृत समाज को कलम की नोक से गुदगुदा कर जगाने की चेष्टा करता है और समाज को जागते न देख कभी कलम की नोक समाज के शरीर में गड़ा भी देता है।"

समाज का आलोचक लेखक ही ऐसे व्यंग्य की सृष्टि कर सकता है। अपने कल्पना लोक या व्यक्तित्व की चहारदीवारी में घिरा हुआ लेखक मानव-मन के रहस्यों का ही उद्घाटन करने में व्यस्त रहता है, इसी कारण उसमें तीखापन नहीं आ पाता। यशपाल मार्क्सवादी हैं। उनका प्रधान उद्देश्य वर्त-

मान समाज की आर्थिक विषमताओं का चित्रण कर जनता में उनके विरुद्ध विद्रोह और संघर्ष की भावना जाग्रत करना रहा है। तीखापन प्रेमचन्द में था, तीखापन नागार्जुन है। तीखापन अमृतलाल नागर और यशपाल में है क्योंकि ये सभी देश, समाज और संस्कृति के जागरूक प्रहरी हैं। इनकी कला सोद्देश्य है और देश और समाज को जगाना उसका उद्देश्य रहा है।

उपेन्द्रनाथ 'अश्क'

प्रेमचन्द आदि हिन्दी के श्रेष्ठ कथाकारों के समान उपेन्द्रनाथ 'अश्क' भी उर्दू से हिन्दी में आए थे। हिन्दी के अधिकांश पंजाबी लेखकों के समान 'अश्क' ने भी अपना साहित्यिक जीवन उर्दू से ही प्रारम्भ किया था। जब प्रेमचन्द ने उर्दू के इस नवोदित कलाकार की कुछ प्रारम्भिक कहानियाँ पढ़ीं तो इनकी दो एक कहानियों का हिन्दी में अनुवाद करवा कर 'हंस' और 'माधुरी' जैसी प्रसिद्ध पत्रिकाओं में प्रकाशित कराया और इनकी उर्दू कहानियों के संग्रह 'औरत की फितरत' की भूमिका लिखकर इन्हें हिन्दी में लिखने के लिए प्रेरित किया। 'अश्क' हिन्दी में नाटककार के रूप में ही अधिक प्रसिद्ध हैं यद्यपि ये हैं उपन्यासकार, कहानीकार आदि सभी कुछ। हिन्दी-कहानी साहित्य में इन्हें प्रेमचन्द की परम्परा का कहानीकार माना जाता है। प्रेमचन्द के ही समान इनका जीवन संघर्षों से पूर्ण रहा है।

अश्क का जन्म १४ दिसम्बर १९१० को जालन्धर निवासी पंडित माधोराम के यहाँ हुआ था। पिता स्टेशन-मास्टर थे। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा साधारण रूप से चलती रही और जब इन्होंने सन् १९३१ में बी० ए० पास किया तो इनके सामने जीविकोपार्जन की समस्या आ खड़ी हुई क्योंकि इनके पिता मनमौजी और खर्चीले व्यक्ति थे इसलिए परिवार को सदैव आर्थिक संकटों का सामना करना पड़ता था। अतः अश्क बी० ए० होते ही स्कूल में मास्टर हो गए परन्तु छः महीने में ही ऊब कर नौकरी छोड़ दी और फिर लाहौर के कई समाचार-पत्रों में काम किया, झण्डू फार्मेसी के लिए विज्ञापन लिखे तथा अन्य प्रकार के अनेक काम किए। सन् १९३४ में एकाएक लॉ में

दाखिला लिया और १९३६ में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हो सब-जज बनने के स्वप्न देखने लगे। इसी बीच इनकी पत्नी का देहान्त हो गया और इनका सब-जज बनने का सारा उत्साह जाता रहा और साहित्य-सेवा में जुट गए। इनकी लेखनी अविराम गति से साहित्य-सृजन करने लगी।

इन्होंने प्रारम्भ में ऐतिहासिक नाटक, एकांकी, कहानियाँ और कुछ कविताएं लिखीं जिनकी काफी चर्चा रही। पहली पत्नी की मृत्यु से अश्क को बहुत धक्का पहुँचा था इसलिए उनका दुबारा शादी करने का मन नहीं था परन्तु वे जहाँ भी जाते वहीं उनके ऊपर कोई-न-कोई लांछन लग ही जाता। इसलिए घबड़ा कर सन् १९४१ में उन्होंने अपने बड़े भाई से शादी तय कर देने के लिए लिखा। भाई ने शादी तय कर दी। इसी बीच अश्क का परिचय कौशल्या से हुआ और दोनों में प्रेम हो गया। अश्क ने बड़े भाई को सगाई तोड़ देने के लिए लिखा परन्तु अन्त में बाध्य होकर उसी लड़की से इन्हें शादी करनी पड़ती। परन्तु शादी के महीने भर बाद ही ये अपनी दूसरी पत्नी से लड़-झगड़ कर बंगलौर भाग गए। बंगलौर से उर्दू के प्रसिद्ध लेखक कृष्णचन्द्र ने इन्हें आकाशवाणी दिल्ली में बुला लिया। यहीं, उसी वर्ष अश्क ने कौशल्या से चुपचाप विवाह कर लिया।

सन् १९४५ में आकाशवाणी के अधिकारियों से झगड़ा कर ये 'फौजी अखबार' में चले गए और वहाँ से फिल्मों में काम करने बम्बई पहुँच गए। बम्बई में इन्होंने फिल्मों के लिए कहानियाँ, संवाद आदि लिखे, एकाध अभिनय किया। वहाँ फिल्मों का काम करने के साथ-साथ ये साहित्य-सृजन में भी लगे रहे। इस दुहरे परिश्रम, बम्बई की जलवायु आदि का यह परिणाम निकला कि ये बीमार पड़ गए और डाक्टरों ने इन्हें यक्ष्मा घोषित कर दी। इस प्रकार फिल्मों में दो वर्ष काम करने के बाद ये दो वर्ष बीमार पड़े रहे और इस बीमारी की हालत में ही साहित्य-सृजन भी करते रहे। दो वर्ष की इस बीमारी में बम्बई में कमाया हुआ इनका सारा पैसा उड़ गया। अन्त में सन् १९४८ में सरकार से आर्थिक सहायता प्राप्त कर ये इलाहाबाद चले आए। इलाहाबाद आकर इनके चार-पाँच वर्ष बड़े संकट में गुजरे। अन्त में कौशल्या ने सरकार से ऋण लेकर 'नीलाभ प्रकाशन' के नाम से अपनी प्रकाशन संस्था खोल ली

और अश्क के सम्पूर्ण साहित्य का स्वयं ही प्रकाशन करना प्रारम्भ कर दिया।

आजकल अश्क-दम्पत्ति इलाहाबाद में ही रहते हैं और अपना प्रकाशन स्वयं ही करते हैं।

अश्क स्वभाव से बेतकल्लुफ, बेपरवाह और लोकाचार की तनिक भी चिन्ता नहीं करते। नाटकीयता कूट-कूट कर उनकी प्रकृति में समाई हुई है। अपने नाटक दूसरों को सुनाने में उन्हें बड़ा मजा आता है। दूसरों की बोली, चाल, हँसी आदि की नकल करने में पारंगत हैं। सिनेमा देखते समय खूब आवाजें कसते और सीटियाँ बजाते हैं। कभी घन्टों दिल खोलकर कहकहे लगाते रहते हैं और कभी घन्टों चुपचाप उदास बैठे रहते हैं। अश्क का कहना है कि जब मैं भीतर से उदास होता हूँ तो बाहर से खूब हँसता हूँ और दूसरों को हँसाता हूँ। उनके भीतर की यह उदासी ही उनके साहित्य की मूल प्रेरणा रही है।

ऐसे अश्क हिन्दी के एक प्रसिद्ध कहानीकार हैं। उन्होंने कहानी-लेखक के रूप में प्रारम्भ में प्रेमचन्द को अपना आदर्श मानकर कदम बढ़ाये और आगे चलकर बदलते हुए युग के अनुसार प्रगति के पथ पर आगे बढ़ते चले गए। यदि अश्क यशपाल के समान मार्क्सवादी सिद्धान्तों में पूर्ण आस्था नहीं रखते परन्तु फिर भी शोषण, अत्याचार और अन्याय को देख विचलित हो उठते हैं और उनकी यह व्याकुलता शोषित-पीड़ित जनता के प्रति गहरी सहानुभूति, आक्रोश और वेदना के रूप में साहित्य का स्वरूप धारण कर मुखरित हो उठती है। इसी कारण अश्क की गणना हिन्दी के प्रगतिशील साहित्यकारों में की जाती है।

हम ऊपर कह आए हैं कि अश्क उर्दू से हिन्दी में आए थे। इन्होंने उर्दू में कहानियाँ लिखना सन् १९२६ से प्रारम्भ कर दिया था। १९३१ तक ये उर्दू में कहानियाँ लिखते रहे जो 'औरत की फितरत' नामक कहानी-संग्रह में प्रकाशित हुई हैं। इस संग्रह की भूमिका लिखकर प्रेमचन्द ने इन्हें हिन्दी में कहानियाँ लिखने के लिए प्रेरित किया था और इस प्रेरणा के फलस्वरूप इन्होंने दो वर्ष में ही अनेक सुन्दर कहानियाँ, जैसे 'जुदाई की शाम का गीत' 'नज्जिया', 'निशानियाँ', 'मरीचिका', 'फूल का अंजाम' आदि हिन्दी को भेंट

कीं। ये कहानियाँ विशुद्ध रूप से प्रेमचन्द की विकास-कालीन कहानी कला से प्रभावित थीं। इस समय अश्क प्रेमचन्द के आदर्शोन्मुख यथार्थवाद से प्रभावित थे। इनमें से यद्यपि कुछ कहानियों का धरातल रूमानी था परन्तु उनका शिल्प-विधान एक सा ही रहा।

सन् १९३३ का वर्ष एक प्रकार से अश्क की कहानी-कला का संक्रान्ति-काल था क्योंकि इसी समय उन्होंने ऐसी कहानियाँ लिखना आरम्भ किया जो विशुद्ध यथार्थवादी थीं, जैसे 'चित्रकार की मौत', 'तीन सौ चौबीस', 'नरक का चुनाव' आदि। और यहीं से अश्क की कहानी-कला का वास्तविक विकास माना जा सकता है जो विशुद्ध यथार्थवादी परम्परा को अपनाकर आगे बढ़ा और उसी के अनुरूप उसने अपने शिल्प-विधान का निर्माण किया। यशपाल के यथार्थवाद और अश्क के यथार्थवाद में विचारधाराओं का अन्तर स्पष्ट है। यशपाल मार्क्सवादी हैं इसलिए वे सम्पूर्ण विषमताओं का कारण अर्थ को मानते हैं। अश्क प्रगतिशील विचारक होते हुए भी मार्क्सवादी नहीं हैं इसलिए विषमताओं का चित्रण तो कर देते हैं परन्तु उनके मूल कारण की तह तक नहीं पहुँच पाते। कहानी की सोद्देश्यता दोनों में समान है। यशपाल के ही समान अश्क भी किसी-न किसी चरित्रगत, नीतिगत या समाजगत मान्यता को ही अपना लक्ष्य बनाकर कहानी लिखते हैं। अश्क सैद्धान्तिक रूप से भी कहानी में सोद्देश्यता के पक्षपाती हैं। परन्तु अश्क की यह सोद्देश्यता प्रेमचन्द की विकासकालीन कहानियों की सोद्देश्यता तक ही सीमित रह जाती है। उसमें प्रेमचन्द के उस विकास के बीज नहीं मिलते जिसने 'कफ़न' जैसी कहानी को जन्म दिया था। 'कफ़न' ने जिस विकास की सम्भावनाओं का संकेत दिया था उसका विकास यशपाल में दिखाई पड़ा था परन्तु अश्क विकास की उस स्थिति तक नहीं पहुँच पाए। इसका कारण था।

मार्क्सवादी लेखक प्रत्येक विषमता और समस्या का यथार्थ चित्रण कर उसके मूल कारण की ओर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष संकेत दे देता है और उस विषमता या समस्या के निराकरण का उपाय उसी संकेत में छिपा रहता है। परन्तु जो लेखक मार्क्सवादी नहीं होता परन्तु प्रगतिशील अवश्य होता है वह उस विषमता या समस्या का पूर्ण यथार्थ चित्रण तो कर देता है परन्तु मूल

कारण की तह तक नहीं पहुँच पाता। यही यशपाल और अश्क के कहानी साहित्य का मूल अन्तर है।

अश्क ने अपनी कहानियों में समाज और व्यक्ति दोनों का चित्रण किया है। समाज के चित्रण में उनका दृष्टिकोण सर्वत्र आलोचनात्मक रहा है और प्रायः व्यक्ति के चित्रण में भी। यहां कोई न कोई लक्ष्य अवश्य रहता है। परन्तु अश्क ने जो कहानियाँ व्यक्ति की किसी मनःस्थिति विशेष को लेकर लिखीं हैं उनमें निर्माण की मूल प्रेरणा कोई-न-कोई अनुभूति ही रही है। अतः इस प्रकार की कहानियों को मनोवैज्ञानिक माना जा सकता है। इनमें व्यक्ति की मानसिक कुंठाओं का चित्रण अवश्य है परन्तु इस चित्रण में अज्ञेय आदि के समान उलझन, अस्पष्टता आदि न होकर पूर्ण स्पष्टता मिलती है।

कहानी-कला की दृष्टि से अश्क का सम्पूर्ण कहानी साहित्य एकरस गति से चला है। उसमें कहीं भी व्यापक उतार-चढ़ाव नहीं मिलते। प्रारम्भिक कहानियाँ प्रेमचन्द की कहानी-कला से अनुप्राणित हैं—विचार, चित्रण और शिल्प सभी दृष्टियों से। बाद की कहानियाँ भी एक प्रकार से प्रेमचन्द की कहानी कला से ही प्रभावित हैं। प्रेमचन्द की अन्तिम कहानियों का जो स्वर रहा है वही मूल रूप से अश्क की परवर्ती कहानियों का भी रहा है। इसी कारण अश्क को प्रेमचन्द की यथार्थवादी परम्परा का लेखक माना जाता है। प्रेमचन्द के ही समान अश्क ने शिल्प को अधिक महत्व न देकर भाव को ही प्रधानता दी है।

अपनी कहानियों के कथानकों का निर्माण करने में अश्क पूर्ण सावधान प्रतीत होते हैं। वे कहानी की मूल संवेदना के स्वाभाविक विकास से अपने कथानक को सँवारते हुए इस प्रकार चलते हैं कि कथानक का आदि, मध्य और अन्त पूर्ण परिष्कृत और स्पष्ट वन जाते हैं। कहानी की पूरी कथा अपनी सम्पूर्ण एकाग्रता के साथ अपने अभीप्सित लक्ष्य की ओर तीव्र गति से बढ़ती है। इन कहानियों की मूल संवेदनायें असाधारण न होकर मध्य वर्ग की, सब की, साधारण संवेदनायें रहती हैं। संवेदना की यह साधारणता ही कथानक को इधर-उधर अन्तर्कथाओं आदि के जाल में न भटकने देकर उसे कहानी के मूल भाव या समस्या के सहारे बढ़ाती हुई अन्त तक ले जाती है।

कथानक के इस विकास में अश्क ने दो पद्धतियाँ अपनाई हैं। डा० लक्ष्मी-नारायणलाल ने इनकी व्याख्या करते हुए लिखा है—

"विधान की दृष्टि से अश्क के कथानक निर्माण में दो शैलियाँ हैं, प्रथम, वर्णनात्मक ढंग से घटना-चक्र से और कार्यों के तादात्म्य से, द्वितीय कथासूत्र के पूर्ण विकास और उत्तर विकास के कलात्मक संयोग से। पहले के उदाहरण में उस वर्ग की कहानियाँ आती हैं, जो नैतिक व्यंग्य और सामाजिक आलोचना सूत्र को लेकर लिखी गई हैं, जैसे 'वह मेरी मँगेतर थी', 'तीन सौ चौबीस', 'चारा काटने की मशीन,''''कांगड़ा का तेली' आदि। इन सब कहानियों की संवेदना जीवनगत व्यंग और कटु आलोचना से सम्बद्ध है और इनके कथानकों के निर्माण में व्यक्ति के जीवन-सम्बन्धी सहज घटना-चक्रों तथा परिस्थितियों के आरोह-अवरोह एक सूत्रता में पिरोये गए हैं। दूसरे के उदाहरण में उस शैली की कहानियाँ आती हैं जो प्रायः प्रतीकात्मक हैं अथवा जिनके कथा-विधान में पूर्व और उत्तर स्थितियाँ चिन्तन, स्मृति आदि के माध्यम से वर्तमान स्थिति में पिरोयी गई हैं, जैसे—'नासूर', 'चट्टान', 'अंकुर', 'उबाल', 'बैंगन का पौदा' और 'पिंजरा' आदि।''''वस्तुतः ऐसे कथानक के शिल्प विधान के पीछे अध्ययन और उसके मनोवैज्ञानिक चित्रण की प्रेरणा सबसे अधिक है। प्रथम प्रकार के कथानक की संवेदना जहाँ स्थूल होती है वहाँ दूसरे प्रकार के कथानक की संवेदना अपेक्षाकृत सूक्ष्म और मनोवैज्ञानिक होती है।"

चरित्र की दृष्टि से अश्क के चरित्रों में अधिक विविधता नहीं दिखाई पड़ती। उन्होंने अपने पात्रों का चयन हमारे साधारण दैनिक जीवन से किया है जो सर्वथा स्वाभाविक और मानवीय हैं। अपने इन्हीं चरित्रों के माध्यम से अश्क ने अपने यथार्थवादी दृष्टिकोण को स्पष्ट किया है। समष्टि रूप से अश्क द्वारा अपनाये गए चरित्रों को दो वर्गों में रखा जा सकता है—साधारण चरित्र तथा प्रतिनिधि चरित्र।

साधारण चरित्रों में हमारे परिवारों के विभिन्न सदस्य, किसान, मजदूर आदि आते हैं और इन्हीं के माध्यम से अश्क ने हमारे 'सामाजिक वैषम्य' और 'जन-संघर्षों' का चित्रण किया है। ये साधारण चरित्र एक तरफ तो अपने मौन विद्रोह को अभिव्यक्त करते हैं और दूसरी ओर पूर्ण मानवीय संवेदनाओं

से ओतप्रोत हैं। इनका दीन-दलित, शोषित रूप सहज रूप से पाठकों की सहानुभूति को अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है। समष्टि रूप से इनके चित्रणों में हम अपना ही रूप चित्रित पाते हैं।

डा० लाल के अनुसार अश्क के प्रतिनिधि चरित्र विशुद्ध यथार्थवादी परम्परा के मेरुदंड हैं। ये चरित्र मानव की कुछ विशिष्ट मनःस्थितियों और भावों के प्रतीक हैं इसीलिए इन्हें प्रतिनिधि या 'टाइप' माना जाता है। अश्क की प्रतीकात्मक कहानियों जैसे—'पिंजरा की शान्ति', 'गोखरू', पत्नीव्रत', 'अंकुर', 'उबाल' आदि के प्रधान पात्र इसी कोटि के चरित्रों में आते हैं। एक प्रकार से ये चरित्र हमारे जीवन-दर्शन के प्रतीक अधिक और चरित्र कम हैं। इसी कारण इनके चरित्र का विकास स्वतन्त्र रूप में न होकर वे प्रतिनिधि चरित्र बन जाते हैं। क्योंकि इनके चित्रण में कहानीकार का उद्देश्य इनका चरित्र-चित्रण करना न होकर किसी मनः स्थिति या भाव का चित्रण करना ही अधिक रहता है। इनमें से कोई चरित्र हमारे ह्रासोन्मुख सामाजिक संस्कार का प्रतीक है, कोई स्त्री-संस्कार, निर्बलता, स्वार्थ आदि का, कोई अतृप्त इच्छाशक्ति का, कोई सामाजिक वैषम्य और शोषण का प्रतीक बन जाता है। समष्टि रूप से "अश्क का चरित्र-विधान, पूर्ण मानवीय धरातल पर स्थित है। चरित्रों के रहस्योद्घाटन, उनकी सीमाओं-कुंठाओं पर कटु व्यंग इनके चरित्र-विधान का सबसे बड़ा कौशल है।"

संवाद लिखने में अश्क को आशातीत सफलता मिली है। नाटककार होने के कारण इनके संवादों में संक्षिप्तता और नाटकीयता का सुन्दर सम्मिश्रण हुआ है जिसके कारण संवादों का रूप खूब निखर उठा है। ये संवाद चरित्र-चित्रण करने के साथ-साथ कथा-विकास में भी पर्याप्त योग देते हैं।

शैली की दृष्टि से अश्क की कहानियों में अज्ञेय आदि के समान विभिन्नता नहीं मिलती। वे हिन्दी के उन कहानीकारों में से हैं जो शिल्प की अपेक्षा भाव को अधिक महत्व देते हैं। डा० लक्ष्मीनारायणलाल ने इनकी कहानियों की शैली के तीन रूप निर्धारित किए हैं— १—ऐतिहासिक, २—प्रतीकात्मक और ३—चिन्तन। अश्क ने अधिकांश कहानियाँ ऐतिहासिक शैली में ही लिखी हैं। इनमें "कथा की अविच्छिन्न एकसूत्रता देश-काल-परिस्थिति के चित्रण के

साथ आदि से अन्त तक अक्षुण्ण रहती है।" प्रतीकात्मक शैली वाली कहानियों में ये प्रतीकों के सहारे एक तरफ तो चरित्र-विश्लेषण करते हैं और दूसरी तरफ कहानी का समूचा विधान इन प्रतीकों पर ही टिका रहता है। अश्क कहानी के केन्द्र बिन्दु से कभी भी दूर नहीं हटते। चिन्तन-शैली की कहानियों में कोई पात्र पूर्व स्मृति या आत्म-चिन्तन के सहारे कथा के पूर्व भाग को वर्तमान भाग से मिला कर कहानी को पूर्ण कर देता है। समष्टि रूप से अश्क कहानी की चरम-सीमा पर विशेष बल देते हैं। उपर्युक्त तीनों शैलियों में से अश्क को सर्वाधिक सफलता ऐतिहासिक शैली में ही मिली है क्योंकि यही उनकी परम स्वाभाविक शैली है। देश-काल-परिस्थिति के चित्रण में नाटकीयता है।

भाषा प्रेमचन्द की भाषा का अनुकरण करती प्रतीत होती है। सरल, सीधी, बोलचाल वाली भाषा पात्रानुकूल एवं भावानुकूल रूप बदलती हुई कथा कहती चली जाती है। बीच-बीच में हास्य-व्यंग्य के छींटे, कहावतों, मुहावरों का पुट भाषा में एक अद्‌भुत प्रवाह, प्रभाव और रोचकता उत्पन्न कर देता है। शब्दों का प्रयोग करने में अश्क पूरी स्वच्छन्दता से काम लेते हैं। हिन्दी, संस्कृत, अंग्रेजी, उर्दू और पंजाबी के शब्दों का मिश्रण उनकी भाषा को शहरी मध्यवर्गीय भाषा का एक आदर्श रूप प्रदान कर देता है। अश्क उर्दू के भी कहानीकार रहे हैं इसलिए उर्दू भाषा का चुलबुलापन, फड़कीली शैली उनकी भाषा में एक अजीब अटपटा भोलापन सा उत्पन्न कर देती है। संक्षेप में; उनकी भाषा का स्वरूप लगभग वैसा ही रहा है जैसा कि उर्दू से हिन्दी में आने वाले कलाकारों प्रेमचन्द, सुदर्शन आदि की भाषा का रहा है।

व्यंग अश्क की कहानियों में खूब निखर कर आया है। यथार्थवादी कलाकार अपने चुभते व्यंग के लिए हिन्दी में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। सामाजिक मान्यताओं, शोषण, अन्याय, धर्म आदि पर इन लोगों ने अपने तीखे, तिलमिला देने वाले व्यंगों द्वारा बड़ा सशक्त और निर्मम प्रहार किया है। अश्क इस कला में माहिर हैं।

अश्क की कहानी-कला का विवेचन करते हुए डा० लक्ष्मीनारायणलाल ने लिखा है—

"अश्क की कहानी की शिल्प-विधि प्रेमचन्द की यथार्थवादी परम्परा के

शिल्प विधान के विकास का आधुनिक रूप है। जिस तरह प्रेमचन्द की कला व्यक्ति-समाज के यथार्थ जीवन और मनोविज्ञान का सामूहिक प्रतिनिधित्व करती थी, ठीक वही धरातल अश्क की कहानियों का है। यही कारण है कि इनकी कहानियाँ जहाँ एक ओर समाज की आलोचना करती हैं; वहाँ दूसरी ओर व्यक्ति के मनोविज्ञान की व्याख्या प्रस्तुत करती हैं। चरित्र पर तीखे व्यंग के साथ पाठक को एक निश्चित आदर्श अथवा लक्ष्य की ओर प्रेरित करती हैं।"

अश्क आजकल भी कहानियाँ लिखते रहते हैं यद्यपि उनकी सम्पूर्ण प्रतिभा का विकास उनके एकांकी नाटकों में ही अधिक दिखाई पड़ता है। हिन्दी में उनकी प्रसिद्धि एक नाटककार और उपन्यासकार के रूप में ही अधिक है। परन्तु अश्क जो बात अपने नाटकों और उपन्यासों के माध्यम से नहीं कह पाते हैं उन्हें कहानी के माध्यम से कहने का प्रयत्न करते हैं। वे न तो आदर्शवादी हैं, न फ्रॉयडवादी मनोवैज्ञानिक और न मार्क्सवादी ही। परन्तु अपनी विचार-धारा, यथार्थ चित्रण, सामाजिक आलोचना आदि की दृष्टि से उन्हें प्रगतिशील वर्ग का ही लेखक स्वीकार किया जाता है।

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

हिन्दी के सर्वाधिक प्रसिद्ध क्रान्तिकारी एवं विद्रोही कवि, छायावाद के प्रधान स्तम्भों में से एक, प्रगतिवाद के प्रथम उन्नायकों में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान एवं व्यक्तित्व रखने वाले, महाकवि निराला एक सफल उपन्यासकार और कहानीकार भी है। 'सामाजिक जीवन की इकाइयों अथवा व्यक्तिगत जीवन के विभिन्न पहलुओं के धरातल पर कहानियां लिखने वालों में' निराला अपना एक विशिष्ट स्थान रखते हैं। अपनी कहानियों में निराला ने जीवन को परम स्वस्थ व्यापक, प्रगतिशील और यथार्थवादी दृष्टिकोण के साथ अङ्कित किया है। जीवन-दर्शन, मानव-संवेदना और चरित्र-निष्ठा ये तीनों पक्ष उन्होंने अत्यन्त स्वस्थ दृष्टिकोण के साथ ग्रहण किए हैं। इनकी कहानी-कला में अपनी मौलिक प्रतिभा और शिल्प-विधान का विशिष्ट आकर्षण है। व्यापक रूप से ये जीवन-दर्शन की प्रवृत्ति के कहानीकार हैं।

अभी तक निराला के कुल पाँच कहानी-संग्रह प्रकाशित हुए हैं -१—लिली २ —सखी, ३—चतुरी चमार, ४—सुकुल की बीबी, और ५—अपना घर। कुछ आलोचक इनके सुप्रसिद्ध रेखाचित्र-'कुल्ली भाट' और 'बिल्लेसुर बकरिहा' को भी लम्बी कहानियाँ मानते है परन्तु कहानी-कला की दृष्टि से इन्हें कहानियाँ न मानकर रेखाचित्रों के रूप में ही स्वीकार करना अधिक संगत प्रतीत होता है। अस्तु,

निराला के उपर्युक्त पाँचों कहानी-संग्रहों के शीर्षकों से ही स्पष्ट हो जाता है कि इनमें दो प्रकार की कहानियाँ संग्रहीत होंगी। 'लिली' और 'सखी' जैसे शीषक छायावादी प्रवृत्ति की घोषणा करते हैं, और चतुरी चमार, सुकुल की

बीवी तथा अपना घर प्रगतिवादी प्रवृत्ति का। और वस्तुतः यह अनुमान है भी ठीक। निराला की सम्पूर्ण कहानियों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—(१) छायावादी कहानियाँ ('लिली' और 'सखी' संग्रहों की कहानियाँ), तथा (२)—प्रगतिवाद से प्रभावित नवीन प्रवृत्तियों का चित्रण करने वाली कहानियाँ ('चतुरी चमार', 'सुकुल की बीवी' और 'अपना घर' संग्रहों की कहानियाँ)। कथा-साहित्य में सम्भवतः छायावादी शैली का प्रणयन करने वाले सर्वप्रथम कलाकार निराला ही हैं। अपनी छायावादी प्रवृत्ति के कारण निराला को अपने पूर्ववर्ती कहानीकारों की कहानियाँ अधिक पसन्द नहीं आईं थीं। अपने प्रथम कहानी-संग्रह 'लिली' की भूमिका में उन्होंने अपने इसी विचार को प्रकट करते हुए लिखा था—

"यह कथानक-साहित्य में मेरा पहला प्रयास है। मुझसे पहले वाले हिन्दी के सुप्रसिद्ध कहानी-लेखक इस कला को किस दूर उत्कर्ष तक पहुँचा चुके हैं, मैं पूरे मनोयोग से समझने का प्रयास करके भी नहीं समझ सका। समझता तो शायद उनसे पर्याप्त शक्ति प्राप्त कर लेता और पतन के भय से इतना न घबराता।"

निराला के इस कथन से स्पष्ट है कि कहानी का तत्कालीन स्वरूप उन्हें आकर्षित और प्रभावित करने में असमर्थ रहा था। इसीलिए उन्होंने हिन्दी-कहानी की प्रचलित परम्परा से भिन्न नवीन शैली की कहानियाँ लिखने का प्रयत्न किया था। निराला छायावादी कवि हैं। जिस समय उन्होंने 'लिली' और 'सखी' संग्रहों की कहानियाँ लिखीं थों उस समय वे छायावाद से ही प्रभावित थे। अतः उनकी इन प्रारम्भिक कहानियों पर भी छायावादी शैली का पूर्ण प्रभाव पड़ा। इसी कारण इनकी इन प्रारम्भिक कहानियों की कथा, गठन, उद्देश्य आदि भी छायावादी काव्य की ही तरह अस्पष्ट एवं पूर्ण काल्पनिक बन कर रह गए। निराला ने इन कहानियों में चित्रित पात्रों द्वारा जीवन के उन अभावों की पूर्ति दिखाई है जो छायावादी काव्य की एक प्रधान प्रवृत्ति रही है। जो वस्तु वास्तविक जीवन में नहीं प्राप्त हो पाती छायावादी कलाकार उसी की पूर्ति अपनी रंगीन कल्पनाओं द्वारा करता है। बिल्कुल यही प्रवृत्ति 'लिली'

संग्रह की कहानियों तथा निराला के 'अलका' और अप्सरा' जैसे प्रारम्भिक उपन्यासों में दिखाई पड़ती है ।

डा० रामविलास शर्मा ने निराला की छायावादी कहानियों का विवेचन करते हुए लिखा है—"कहानी की होरोइनें प्रायः सभी सोलहवें साल की अधखुली कलियाँ हैं और हीरो या तो बड़े बाप का बेटा है या पढ़-लिखकर खुद उतना ही बड़ा बन जाता है । राजनीति में उसका झुकाव आतङ्कवाद की ओर होता है और देशसेवा के लिए वह रामकृष्ण मिशन के साधुओं की तरह ब्रह्मचर्य को भी आवश्यक समझता है । लेखक के सामने देश की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक समस्यायें आती हैं लेकिन इनका समाधान कभी वह अध्यात्मवाद से करता है, कभी ऐसे यथार्थवाद से जो अध्यात्म-तत्व की ही तरह आदमी की पहुँच से बाहर है ।"

"पद्मा और लिली" कहानी की नायिका पद्मा का चित्रण निराला ने छायावादी शैली से ही प्रारम्भ किया है—"पद्मा के चन्द्रमुख पर षोडश कला की शुभ्र चन्द्रिका अम्लान खिल रही है । एकान्त कुंज की कली सी, प्रणय के वासन्ती मलय-स्पर्श से हिल उठती, विकास के लिए व्याकुल हो रही है ।" निराला की यह छायावादी प्रवृत्ति उनकी प्रगतिवादी कहानियों में भी नहीं छूटी है । 'चतुरी चमार' जैसे प्रगतिवादी कहानियों के संग्रह की कुछ कहानियों में उनकी वह पुरानी छायावादी प्रवृत्ति उभर आई है । 'सफलता' शीर्षक कहानी की नायिका आभा का चित्रण निराला ने छायावादी शैली में ही किया है—

"आभा आज शरत की तरह अपनी सारी रंगीनियों को धोकर शुभ्र हो रही है । श्वेत शेफाली-सी रंगे प्रभात के रश्मि-पात मात्र से वृन्तच्युत—जैसे केवल देवार्चान के लिए चुनी हुई । पर, प्राणों के नीचे, डंडल में, जो रंग लगा हुआ है, वह तो शरत् का नहीं—बसन्त का है ।.......लालसा-चपल क्या कोई उस पूर्ण विकसित स्खलित शेफालिका राशि को केसरिए सुगंध-रङ्ग से अपनी वसन्त की पाग रंगने के लिए वृक्ष के नीचे से चुपचाप चुन ले जायेगा ।"

अपने से पूर्व के कहानी-साहित्य में निराला को ऐसी नायिकाओं के दर्शन नहीं हुए थे । उस साहित्य में चित्रित नायिकाओं के चित्रण में छायावादी

कल्पना की रंगीनियों का अभाव था। सम्भवत: इसी कारण वे निराला को पसन्द न आई हों। परन्तु यहाँ हमें एक बात को समझ लेना चाहिए। हमारे कहने का यह अभिप्राय कदापि नहीं कि इन कहानिकों में केवल कल्पना के ही रंग हैं। इसके विपरीत निराला ने अपनी प्रत्येक कहानी में एक-न-एक समस्या को उठाया है। जैसे 'पद्मा और लिली' में अन्तर्जातीय विवाह की समस्या उठाई गई है। परन्तु, उसका समाधान सामाजिक बन्धनों पर प्रहार न कर, जैसी कि निराला से आशा थी, प्राचीन आदर्शवाद की पेचीदगियों द्वारा ही किया गया है। नायक राजेन्द्र और नायिका पद्मा भिन्न जाति के व्यक्ति हैं। दोनों परस्पर अनुरक्त हैं परन्तु पिता की मर्यादा तथा कठोर सामाजिक बन्धन उन्हें इस बात के लिए विवश कर देते हैं कि वे दोनों आजन्म अखंड ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए देश-सेवा करें। यह समाधान निराला की मूल विद्रोही प्रकृति के प्रतिकूल है। लेकिन आगे चल कर 'श्यामा' शीर्षक कहानी में निराला ने अपनी इस भूल का परिमार्जन कर अन्तर्जातीय विवाह करा दिया है।

निराला की अनेक कहानियाँ उनकी विभिन्न मानसिक अवस्थाओं की प्रतीक सी हैं। उन्होंने अपनी कुछ कहानियों में सामाजिक समस्याओं—पति द्वारा परित्यक्त नारियों और विधवाओं की समस्याओं के बड़े अद्भुत से समाधान प्रस्तुत किए हैं। उन्हें देखकर यह अनुमान लगाना पड़ता है कि निराला की प्रत्येक रचना उनकी एक विशिष्ट मानसिक स्थिति का परिणाम होती है। 'कमला' शीर्षक कहानी की नायिका कमला पति-परित्यक्ता है। वह विपरीत परिस्थितियों वश भिक्षुक बने अपने पति तथा उनकी कलंकिनी बहिन की शादी चुपचाप अपने भाई से करा देती है और इस प्रकार उनका उद्धार करती है। प्रतिदान में उसे समाज द्वारा प्रशंसा तो मिलती है परन्तु उसकी अपनी समस्या का समाधान नहीं हो पाता। इसी प्रकार 'ज्योतिर्मयी' की बाल-विधवा नायिका का विवाह भी वे छल द्वारा उसके प्रेमी से करा देते हैं। परन्तु ये समाधान ऐसे नहीं जो सामाजिक रूढ़ियों को तोड़ने की प्रेरणा प्रदान कर सकें।

'अर्थ' शीर्षक कहानी की समस्या और समाधान तो और भी अधिक अद्भुत और काल्पनिक है। इस कहानी द्वारा निराला इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि धन का उपार्जन परिश्रम द्वारा ही होता है परन्तु साथ ही इसके लिए

ईश्वर-कृपा का होना भी परम आवश्यक है। इस कहानी का नायक रामकुमार चार वर्ष में ही चोटी का उपन्यासकार बन अपनी सारी समस्यायें हल कर लेता है। इसे छायावादी समाधान कहा जाय या यथार्थवादी ? निराला का अपना जीवन ही नहीं बल्कि हिन्दी के प्रायः सभी लेखकों का जीवन इस समाधान को मिथ्या प्रमाणित करता है। सम्भवतः निराला इस प्रकार की कहानियाँ लिखकर अपने काल्पनिक स्वप्नों की पूर्ति करना चाहते रहे हों। 'अर्थ' जैसा ही चम त्कार 'सफलता' कहानी में भी दिखाया गया है।

परन्तु 'सफलता' कहानी 'चतुरी चमार' और 'देवी' जैसी यथार्थवादी कहानियों के लेखक निराला का पूर्ण पूर्वाभास दे देती है। इस कहानी का नायक नरेन्द्र संघर्ष करता हुआ अल्पकाल में ही समृद्धि के चरम शिखर पर पहुँच जाता है और अपने पूर्व प्रकाशक धनीराम से, उसके अन्यायों का बदला भी चुका देता है; परन्तु कहानी का अन्त आते-आते निराला का कलाकार जाग्रत हो उठता है। निराला की जीवन-साधना इस समृद्धि की पुजारिन कभी भी नहीं रही। लेखक ने प्रतिशोध तो ले लिया परन्तु कलाकार विद्रोह कर उठा। फलतः निराला ने कहानी के अन्त में कुछ और पंक्तियाँ जोड़कर आभा द्वारा नरेन्द्र से कहला ही दिया—

"नरेन्द्र, तुम बुरा तो न मानोगे; मैं देखती हूँ दुख बहुत थे जरूर; पर मन्दिर का वह दीप जलाने वाला जीवन मुझे बड़ा सुखमय लग रहा है।" कला अभाव में ही निखरती है। वैभव में वह कुन्द हो उठती है। निराला ने इसी सत्य को आभा द्वारा कहला कर अपने ही समाधान से अपना असन्तोष प्रकट कर दिया है। इसका कारण यह है कि 'अर्थ' शीर्षक कहानी निराला की 'लिली' आदि छायावादी कहानियों के साथ की रचना है और 'सफलता' 'चतुरी चमार' और 'देवी' जैसी यथार्थवादी कहानियों के साथ की। पूर्ववर्ती छायावादी मोह न छूटते हुए भी इसमें प्रगतिवादी निराला का स्वरूप झलकने लगा है।

निराला एक जागरूक कलाकार रहे हैं। उन्होंने युग के परिवर्त्तनों को देखा है, समझा है और अंकित किया है। सन् १९४० के बाद की परिस्थितियों से प्रभावित हो निराला प्रगतिवादी बने। उन्होंने काव्य में 'कुकुरमुत्ता', 'नए पत्ते' जैसी रचनायें दीं। इस काल में आकर निराला छायावादी कल्पना-

लोक की रंगीन दुनियाँ से नीचे उतर यथार्थ की ठोस भूमि पर आ खड़े हुए। यही परिवर्तन उनकी इस काल की कहानियों में भी दिखाई पड़ा। उन्होंने अपनी सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ इसी काल में लिखीं। निराला को स्वयं भी अपनी इसी काल की लिखीं कहानियों के प्रति अधिक मोह है। इन कहानियों में 'चतुरी चमार', 'देवी', 'सुकुल की बीवी' आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। प्रगतिवादी कथाकार निराला की लेखनी का पूर्ण उभार और निखार इन्हीं कहानियों में दिखाई पड़ा। निराला अपनी सर्वश्रेष्ठ कहानी 'चतुरी चमार' को मानते हैं परन्तु हमारी दृष्टि में उनकी सर्वश्रेष्ठ कहानी 'देवी' ही प्रतीत होती है।

इन नवीन कहानियों में निराला का यथार्थवादी दृष्टिकोण ही सर्वोपरि रहा है। इनसे यह प्रकट होता है कि नवीन युग का यह पुराना कलाकार परिवर्त्तित हो रहे समाज के प्रति अपने महान उत्तरदायित्व का पूरा-पूरा अनुभव कर रहा है। निराला साधारण लेखकों के समान प्रसिद्धि प्राप्त करने के लिए बँधी-बँधायी लीकों पर नहीं चले हैं। डा० रामविलास शर्मा के शब्दों में—"अपने उत्तरदायित्व को पहचानने वाला कलाकार इस तरह एक ही लीक में बँध कर कभी नहीं रह सकता। उसकी परिचित लीक जब प्रतिक्रिया की रूढ़ि बन जाती है, तो वह उसे छोड़कर अपना नया मार्ग बनाता है। ऐसे उत्तरदायी कलाकारों की भाँति निराला ने भी यही कार्य किया।"

'लिली' संग्रह की कहानियाँ निराला ने इसलिए लिखीं थीं कि वे अपने से पूर्व के प्रसिद्ध कहानी-लेखकों की कला के उत्कर्ष को या तो समझ नहीं पाए थे या वह, जैसा कि हम ऊपर कह आए हैं, उसे पसन्द नहीं करते थे क्योंकि वह उनकी छायावादी प्रकृति के प्रतिकूल थी। हमारा कहानी-साहित्य प्रारम्भ से ही यथार्थवादी दृष्टिकोण लेकर चला है। जब निराला की छायावादी प्रवृत्ति आगे चलकर स्वयं उन्हें ही सन्तोष न दे सकी तो वे युग की पुकार को सुनकर यथार्थवाद की तरफ झुके और उन्होंने 'चतुरी चमार' और 'देवी' जैसी कहानियों की रचना की। 'चतुरी चमार' की भूमिका में निराला ने स्पष्ट लिखा था—

"मैंने स्थायी साहित्य के सर्जन के विचार से ये कहानियाँ लिखी हैं। पढ़ने पर पाठकों का श्रम सार्थक होगा, मुझको विश्वास है। भाषा, भाव और विषय के विवेचन में कहानियों के साथ उनका मन पुष्ट होगा।" निराला की उपर्युक्त धारणा इन कहानियों के सम्बन्ध में सत्य प्रमाणित हुई है, इसमें सन्देह नहीं। 'चतुरी चमार' तथा 'देवी' जैसी कहानियों को हम निस्संकोच हिन्दी की श्रेष्ठ कहानियों के साथ रख सकते हैं, यदि कहानी-कला के बाह्य अंगों के प्रति मोह त्याग कर उसकी आत्मा 'उद्देश्य' को महत्व दे सकें तो। निराला की ऐसी कहानियों में कथा का अंश अपेक्षाकृत कम होता है। इनसे भावात्मकता और सांस्कृतिक चेतना के साथ-साथ रस-संचार तो होता है पर कहानी-कुतूहल की परितुष्टि नहीं होती।

'चतुरी चमार' कहानी में हमारे सामाजिक जीवन पर गहरा व्यंग है। लह कहानी एक सत्य घटना पर आधारित है। इस कहानी की विशेषता यह है कि इसमें लेखक प्रारम्भ से अन्त तक स्वयं मौजूद है। इसमें निराला ने तटस्थ भाव से ग्रामीण निम्न समाज से अलग खड़े होकर धर्म और राजनीति के ठेकेदारों पर टीका-टिप्पणी नहीं की है। उन्होंने स्वयं उस समाज में गहरे पैठ कर उसके वीभत्स रूप का उद्घाटन किया है। चतुरी एक साधारण ग्रामीण चमार है। उसमें हल्की सी सामाजिक चेतना भी है, इसीलिए वह अपनी संतान को पढ़ा-लिखा कर उन्नत बनाना चाहता है। निरन्तर अत्याचार सहते रहने पर भी उसके अरमान कसमसा उठते हैं और वह जमींदार से टक्कर लेने के लिए अकेला ही अपना सब कुछ बेचकर तैयार हो जाता है। उसके मन में रह-रहकर युगों से चले आते हुए दासत्व को दूर कर देने की भावना उठती है और अन्त में वह अपने इस अधिकार का ज्ञान प्राप्त कर लेता है कि उससे बेगार लेने का किसी को भी कोई अधिकार नहीं है। चतुरी निम्नवर्ग की इस विद्रोही भावना का सजीव और सक्रिय प्रतिनिधि है। जिस दिन उसे अपने मानवीय अधिकारों का ज्ञान होता है उसी समय से उसमें असाधारण शक्ति और विवेक का उदय हो जाता है जिसके बल पर वह जमींदार पर विजय प्राप्त करता है।

'चतुरी चमार' के आसपास ही निराला ने 'देवी' शीर्षक कहानी लिखी थी। इसमें भी निर्धन वर्ग के प्रति निराला की वैसी ही तीव्र सहानुभूति व्यक्त

हुई है जैसी कि 'चतुरी चमार' में मिलती है। परन्तु इसका व्यंग 'चतुरी चमार' से अधिक तीखा और उग्र है। इसमें निराला ने छायावादी कवि के विराट के प्रति उस मोह पर व्यंग कसा है जो विराट की खोज में प्रतिदिन आँखों के सामने रहने वाले और कष्टों से तड़पने वाले, साधारण जनों को भूल जाता है। 'देवी' एक साधारण पगली नारी है। लेखक प्रतिदिन उसे और उसके प्रति होने वाले समाज के व्यवहार को देखता है और उसी व्यवहार का विश्लेषण करते हुए समाज के कर्णधारों, संस्कृति, कला और साहित्य सभी पर भयङ्कर निर्मम प्रहार करता है। हमें निराला के सम्पूर्ण कहानी-साहित्य में सर्वश्रेष्ठ कहानी यह 'देवी' ही लगी है इसीलिए हम चाहते हैं कि इसकी विस्तृत व्याख्या की जाय। इसकी कथा संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत की जा सकती है—

निराला अपने होटल के बरामदे में पड़ी आराम-कुर्सी पर लेटे वर्तमान समाज एवं साहित्य के विषय में सोच रहे थे कि जीवन में बड़प्पन प्राप्त होने से ही व्यक्ति की तारीफ होती है। समाज में बड़े की कदर होती है और छोटे का अपमान। ईश्वर के यहाँ भी बड़े-छोटे की यही परम्परा निभाई जाती है। यही सोचते-सोचते उनकी नजर सड़क के किनारे फटी धोती पहिने बैठी लगभग पच्चीस वर्ष की एक स्त्री पर पड़ी। उसके पास एक डेढ़ साल का बालक खेल रहा था। "उसे देखते ही मेरे बड़प्पन वाले भाव उसी में समा गए और फिर वही छुटपन सवार होगया। मैं उसी की चिन्ता करने लगा—यह कौन है, हिन्दू या मुसलमान ? इसके एक बच्चा भी है। पर इन दोनों का भविष्य क्या होगा ? बच्चे की शिक्षा, परवरिश क्या इसी तरह रास्ते पर होगी ? यह क्या सोचती होगी ईश्वर, संसार, धर्म और मनुष्यता के सम्बंध में ?' इन विचारों ने लेखक के अहंकार के भावों को छोटा बना दिया।

होटल के नौकर ने बताया कि यह पगली होटल की जूठन से अपना पेट पालती है। लेखक उसके कष्टों का अनुमान कर सिहर उठा है। सब इसे पगली कहते हैं पर इसकी इस दशा के क्या वही लोग कारण नहीं हैं ? संभव है उसे उसके पति ने घर से निकाल दिया हो "और यह बच्चा रास्ते के किसी ख्वाहिशमंद का सुबूत हो।" कलाकार का हृदय माँ-बेटे की क्रीड़ा को देखकर विभोर हो उठा परंतु साथ ही समाज की उस उपेक्षिता और उसके

जारज पुत्र के प्रति करुणा एवं ममता से आप्लावित भी हो उठा। उसे देखकर निराला को बारबार महाशक्ति की याद आने लगी।"महाशक्ति का प्रत्यक्ष रूप, संसार का इससे बढ़कर ज्ञान देने वाला और कौन सा होगा ? राम, श्याम और संसार के बड़े-बड़े लोगों का स्वप्न सब इस प्रभात की किरणों में दूर हो गया। बड़ी-बड़ी सभ्यता, बड़े-बड़े शिक्षालय चूर हो गए। मस्तिष्क को घेर कर केवल यही महाशक्ति अपनी महत्ता में स्थिति हो गई। उसके बच्चे में भारत का सच्चा स्वरूप देखा और उसमें—क्या कहूँ, क्या देखा।"···"उसकी आत्मा से यही ध्वनि निकलती है—संसार ने उसे जगह नहीं दी—उसे नहीं समझा; पर संसारियों की तरह वह भी है—उसके भी बच्चा है।"

एक दिन एक नेता का जलूस निकला। लोग उसके बच्चे को कुचल कर और नेता दस हजार की थैली लेकर चले गए, जरूरी-जरूरी कामों में खर्च करने के लिए। परन्तु पगली और उसके बच्चे के काम की उन्हें चिन्ता नहीं। रामायणी भक्तों ने इसे उसके कर्मों का फल बता कर आँखें फेर लीं। निराला उसे खुद भी पैसे देते और मित्रों से भी दिलवाते। कुछ लोगों की यह धारणा भी थी कि पगली के पास काफी धन है। एक मित्र ने उससे मजाक में दो रुपए उधार माँगे। रुपयों की बात सुनकर पगली पहले तो खूब हँसी फिर अन्टी में से तीन पैसे निकाल कर उनकी तरफ बढ़ा दिए। एक दिन बच्चा माँ की अनुपस्थिति में नीचे गिर पड़ा और रोने लगा। निराला ने उस गन्दे बच्चे को गोद में उठा लिया। गोद में आते ही बच्चा चुप हो गया। निराला ने इतना छोटा बच्चा बहुत दिन बाद गोद में लेकर खिलाया था। लोगों ने इस घटना को बहुत महत्व दिया। अन्त में एक दिन ठंड में, बिना यथेष्ठ साधनों के, बाहर खुले मैदान में सोने के कारण पगली को निमोनिया होगया और वह मर गई। बच्चे को अनाथालय भेज दिया गया। इसी समय होटल का मालिक भी नौकरों के रुपए मार, होटल बन्द कर भाग गया। डा० राम विलास शर्मा के शब्दों में—"इस प्रकार 'निराला जी' ने अपना यह रेखा-चित्र, जिसका नए साहित्य के लिए वही महत्व है जो छायावादी कविता में 'जुही की कली' का, समाप्त किया है।"

निराला इस कहानी में जितने डूबे हैं उतने अपनी अन्य किसी भी कहानी

में नहीं। उन्होंने इसमें हमारे सामाजिक संगठन पर बड़ा गहरा व्यंग किया है जिसके तीखेपन से पाठक तिलमिला उठता है और सोचने लगता है कि क्या हमारे समाज का वास्तविक रूप यही है ? यदि यही है तो इसे बदलना पड़ेगा। समाज से अन्याय और शोषण का अन्त करना पड़ेगा। निराला की 'देवी' जैसी पगलियों को हम नित्यप्रति गली-कूंचों, बाजारों और सड़कों पर बच्चे को गोदी में चिपकाए देखते हैं। परन्तु हमारे समाज में ऐसे कितने हैं जिनका हृदय उन्हें देख कर निराला की तरह द्रवित हो उठता है और वर्तमान समाज-व्यवस्था को बदल देने की बात सोचने लगता है। इस कहानी को पढ़ डा० रामविलास शर्मा ने वर्तमान सामाजिक व्यवस्था पर क्षुब्ध हो तीखे परन्तु यथार्थ शब्दों में लिखा है—

"देवी का व्यंग्य इतना प्रभावपूर्ण इसलिये है कि उसका लक्ष्य व्यक्ति-विशेष नहीं है वरन् वह सामाजिक व्यवस्था है जिसमें मुफ्तखोर पूजे जाते हैं और जिन्हें पुजना चाहिए, वे ठोकरें खाते हैं। यहाँ पर निरालाजी ने, भारतीयता के नाम पर जो अन्याय-लीला होती है, उसकी हकीकत बयान कर दी है। धर्म, राजनीति, समाज-सुधार देखने में बड़े सुन्दर शब्द हैं, लेकिन इनकी आड़ में न जाने कितने लोग अपनी स्वार्थ-साधना में लगे हैं। निराला ने दिखाया है कि वही राजनीति सफल होगी, जिसमें 'देवी' जैसी स्त्रियाँ समाज से बहिष्कृत होकर होटल की जूठन की मोहताज न रहेंगीं। वह धर्म नष्ट हो जायेगा जो इस तरह सामाजिक व्यवस्था को यह कर सहन कर लेता है कि अपने-अपने कर्मों का फल है, किसी के बाँटे घी-शक्कर है और किसी को एक जून नमक और चना भी नसीब नहीं है।"

निराला ने अपने कहानी-साहित्य में जीवन को समष्टि रूप से परम स्वस्थ और व्यापक दृष्टिकोण से देखा है। जीवन-दर्शन, मानव-संवेदना और चरित्र-निष्ठा इन तीनों पक्षों में निराला का दृष्टिकोण परम स्वस्थ रहा है। निराला ने विदेशी राज्य की कटु आलोचना की है, दारिद्र्य की भयंकर तस्वीरें खींची हैं, रूढ़ियों पर भयंकर प्रहार किए है। मनुष्य जहाँ भी दुरंगी नीति अपनाता है निराला वहीं उसकी असलियत को खोलकर रख देते हैं। कहानी-कला की दृष्टि से निराला के इस कथा-साहित्य में भले ही कमियाँ मिलें पर सामाजिक

यथार्थवादी दृष्टि से इस साहित्य को अलभ्य कोटि का साहित्य मानना पड़ेगा। क्योंकि ऐसे ही साहित्य की जड़ें देश और समाज में गहराई तक फैलती हैं न कि शुद्ध कलावादी साहित्य की। निराला के इस कथा-साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे समाज, धर्म, राजनीति, शोषण, अन्याय, अत्याचार आदि पर भयंकर से भयंकर प्रहार करते हुए भी कहीं मर्यादा से बाहर नहीं गए हैं। यही उनकी कला की महानता है।

शैली और शिल्पविधान की दृष्टि से निराला की कहानियों को उच्च कोटि का नहीं माना जा सकता। वे अपनी यथार्थवादी कहानियों की दृष्टि से प्रेमचंद संस्थान के लेखक माने जा सकते हैं परन्तु उनमें न तो कहीं शिल्प-विधान की विविधता मिलती है और न कला-प्रदर्शन के प्रति मोह ही लक्षित होता है। यहाँ तक कि उनकी 'चतुरी चमार' और 'देवी' जैसी श्रेष्ठ कहानियाँ भी। कहानी-कला की दृष्टि से कहानियाँ न सिद्ध होकर रेखाचित्र ही कही जायेंगी ऐसा प्रतीत होता है कि निराला ने कहानियाँ लिखते समय कलापक्ष की ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया है। वह किसी घटना से प्रभावित हुए और उनकी सशक्त लेखनी उसका शब्द चित्र उतारने में व्यस्त हो गई। बस इतना ही। उन्होंने न तो कहानी के तत्वों की पूर्णता और समन्वय की ओर ध्यान दिया और न कला के प्रति सावधान ही रहे। परन्तु उनका जीवनव्यापी सूक्ष्म निरीक्षण, तीखा व्यंग्य और सशक्त भाषा उनकी कहानियों में एक ऐसा आकर्षण और प्रभाव उत्पन्न कर देते हैं कि उनके सामने कहानी की अन्य न्यूनताओं की ओर एकाएक पाठक का ध्यान तक नहीं जाने पाता।

निराला की कहानियों की सबसे बड़ी विशेषता उनके प्रभाव की समग्रता को ही माना जा सकता है। परन्तु यहाँ हमें इस तथ्य को नहीं भूल जाना चाहिए कि निराला मूलतः कवि हैं, कथाकार नहीं। उनके कवि के सम्मुख उनका कथाकर का रूप कुछ दब सा जाता है। पाठक निराला को एक कवि के रूप में ही अधिक जानते हैं। इसी कारण निराला की कहानियों का अधिक प्रचार न हो सका। फिर भी अपनी कुछ ही कहानियां के बल पर निराला को आलोचकों द्वारा हिन्दी के प्रसिद्ध कहानीकारों में स्थान प्रदान किया गया है।

इस सफलता के रहस्य को डा० लक्ष्मी नारायण लाल के शब्दों में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

"निराला की कहानियों में मुख्यत: भाव-पक्ष की सम्पत्ति अतुल है, कला-पक्ष की नहीं। कलापक्ष में इनकी कहानियाँ प्रेमचन्द-संस्थान में आती हैं। रचना-विधान में वर्णनात्मकता, कथा-विधान में इतिवृत्त तथा शैली की दृष्टि से, ऐतिहासिक शैली इनकी कहानी-कला के मुख्य पक्ष हैं। वस्तुत: निराला की कहानियाँ इस अर्थ में उत्कृष्ट हैं कि ये समाज के सभी पात्रों को छूती हैं, विशेष कर उन तीरों को जहाँ शोषण है, संघर्ष है। इनकी कहानितां अपनी मर्मिकता और संवेदना के सहारे मानव-विश्लेषण और अध्ययन में जितनी सफल हुई हैं, उतनी ही सफलता उन्हें इस सत्य की प्रतिष्ठा में मिली है कि मानव-जीवन अपनी समस्त सीमाओं और संघर्षों के रहते महान और सुन्दर है।"

रमाप्रसाद घिल्डियाल 'पहाड़ी'

प्रेमचन्द तक हिन्दी कहानी की परम्परा मूलतः मानववादी थी। इस मानववाद की व्याख्या करते हुए शिवदानसिंह चौहान ने लिखा है—"समाज के वैषम्य से कुंठित-पीड़ित है मनुष्य के अन्तःकरण में मनुष्य और मनुष्यता का निवास है, मानव जीवन में इस विश्वास को लेकर ही कहानीकार सामाजिक विषमताओं पर आक्रमण करते थे और मनुष्य की समाज-खंडित प्रतिमा को पुनः पूर्णत्व देने के लिए उसके अन्तःसत्य और अन्तःसौन्दर्य, यानी उसकी अखंडित मानवीयता का उद्घाटन करते थे।" परन्तु प्रेमचन्द के उपरान्त मनोवैज्ञानिक कहानीकारों का एक ऐसा दल हिन्दी-कहानी-क्षेत्र में उतरा जो फ्रॉयड का अन्ध-भक्त सा था। इन नवीन कहानीकारों ने अपनी पूर्व स्वस्थ परम्परा को त्याग कर फ्रॉयड के अर्ध-सत्यों को स्वीकार कर मानव को अपनी अर्ध-चेतन काम-वासनाओं का असहाय गुलाम मान लिया और उसका चित्रण 'सभ्यता के बाह्यावरण में ढँके-छिपे पर मूलतः हिंस्र, पाशविक और स्वार्थी' के रूप में किया। इन कहानीकारों ने न तो राष्ट्रीय जागरण की तरफ ध्यान दिया और न सामाजिक विषमताओं का ही चित्रण किया। इनकी लेखनी रात दिन 'सेक्स' की धुरी पर ही चक्कर काटती रही। 'पहाड़ी' ऐसे कहानीकारों में अपना प्रमुख स्थान रखते हैं। हिन्दी के चतुर लेखक अज्ञेय ने अपनी कुशल कला द्वारा कुछ सीमा तक फ्रॉयड को सह्य सा बना दिया था परन्तु पहाड़ी जैसे लेखक फ्रॉयड पर कला का आवरण न डाल सकने के कारण उसके सिद्धान्तों को ही चित्रित करने में व्यस्त रहे।

'पहाड़ी' का माता-पिता द्वारा दिया नाम रमाप्रसाद है। उनका जन्म

गढ़वाल में सन् १६१२ में हुआ था। शिक्षा समाप्त कर उन्होंने पत्रकार का पेशा अपनाया। अनेक प्रमुख पत्रों के सम्वाददाता तथा 'कर्मयोगी', 'नया-साहित्य' आदि पत्रों के सम्पादक-मंडलों में कार्य किया। कुछ दिनों लखनऊ 'आकाशवाणी' में हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष-पद को सम्हाला और फिर हिन्दी-साहित्य सम्मेलन प्रयाग के मंत्री बन गए। इन कार्यों के साथ-साथ उनकी लेखनी भी अनवरत रूप से चलती रही। उन्होंने कई उपन्यास और अनेक कहानियाँ लिखीं और आजकल भी यदा-कदा लिखते रहते हैं। हिन्दी में इनकी प्रसिद्धि कहानीकार के रूप में ही अधिक है। अब तक इनके कई कहानी-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं, जैसे—१—सड़क पर, २—बरगद की जड़ें, ३—मौली, ४—यथार्थवादी रोमान्स आदि। 'चार विराम', 'हिरन की आँखें', 'यथार्थवादी रोमान्स', 'राजरानी', 'एस्प्रिन की टेबुलेट', 'नया मोर्चा', 'तमाशा', 'केवल प्रेम ही विश्राम', 'लाक्षणिक पुरुष', 'छायावादी हीरोइनें', आदि इनकी प्रसिद्ध कहानियाँ मानी जाती हैं।

प्रेमचन्द के उपरान्त हिन्दी-कहानी ने जो एक नया मोड़ लिया था उसे इतिहासकारों ने 'संक्रान्ति युग' का नाम दिया है। पहाड़ी इसी काल के मनोवैज्ञानिक कहानीकार माने जाते हैं। फ्रॉयड की मनोविश्लेषण-पद्धति और काम का प्राधान्य इनकी प्रेरणा का मूल स्रोत रहा है। कुछ आलोचकों ने इन्हें यशपाल-संस्थान का कहानीकार माना है परन्तु यह मान्यता भ्रामक है। यशपाल मूलतः मार्क्सवादी कथाकार हैं और पहाड़ी फ्रॉयडवादी। हम यशपाल का विवेचन करते समय संक्षेप में मार्क्सवाद और फ्रॉयडवाद का अन्तर स्पष्ट कर आए हैं। मार्क्सवाद समष्टिवादी विचारधारा है और फ्रॉयडवाद व्यक्तिवादी। इन दोनों का समन्वय असम्भव है। और जहाँ कहीं भी लेखकों ने मार्क्सवाद और फ्रॉयडवाद का समन्वय करने का प्रयत्न किया है वहीं विकृति उत्पन्न हो गई है। मार्क्सवाद को न समझने वाले कुछ आलोचक 'उन्मुक्त भोग' के सिद्धान्त को मार्क्सवादी सिद्धान्त का ही एक पक्ष घोषित कर इस 'भ्रम का प्रचार करते आए हैं। प्रारम्भ में मार्क्सवादी नए जोशीले लेखकों ने इस 'उन्मुक्त भोग' का नारा लगा खुलकर अश्लील चित्रण करने प्रारम्भ कर दिये थे। लेनिन ने इस स्थिति तथा इस भ्रम को लक्ष्य कर इस चित्रण का घोर

विरोध करते हुए मार्क्सवाद और फ्रॉयडवाद का अन्तर स्पष्ट किया था। फ्रॉयडवाद नैतिकता, सामाजिक मान्यताओं आदि को कोई महत्व नहीं देता परन्तु समाजवादी देशों में तलाक तक को हेय दृष्टि से देखा जाता है और व्यभिचार को अक्षम्य अपराध समझा जाता है।

मार्क्सवाद एक विज्ञान है। फ्रॉयडवाद एक व्यक्तिवादी दर्शन है। इसमें बहुत कुछ कल्पना और अनुमान पर निर्भर करता है। मार्क्सवाद के साथ कल्पित सिद्धान्तों की संहति नहीं बैठती। परन्तु, जैसा कि हम ऊपर कह आए हैं, अनेक लेखकों ने मार्क्सवाद का ऊपरी चोला धारण कर उसके नीचे अपनी रुद्ध काम-वासना को प्रवाहित करने का प्रयत्न किया हैं। इन लोगों की दृष्टि में विश्व में प्रेम से अधिक प्रगतिशील और कोई दूसरी भावना नहीं है। परन्तु ये लोग इस सत्य को भूल जाते हैं कि प्रेम की कल्याणकारी सत्ता सामाजिक रूप में है न कि व्यक्तिगत रूप में। 'पहाड़ी' आदि कहानीकारों की गणना इसी भ्रम के कारण प्रगतिवादी लेखकों में की जाती रही है वस्तुतः ये लोग मूलतः हैं फ्रॉयडवादी ही।

इन लोगों ने फ्रॉयड के साथ भी अन्याय किया है। फ्रॉयड ने एक तरफ तो मनोविश्लेषण पद्धति द्वारा मानव हृदय के अध्ययन का एक नूतन मार्ग खोला था, और दूसरी ओर उसने 'केवल सेक्स को ही चिरन्तन सत्य मानकर शेष समस्त सामाजिक सम्बन्धों को कृत्रिम और अप्राकृतिक' घोषित किया था। उसने काम-वासना और उसकी तृप्ति को प्रकृति का एक अनिवार्य धर्म माना था। पहाड़ी ने फ्रॉयड के पहले पक्ष की अवज्ञा कर इस दूसरे पक्ष को ही अपनी कहानियों का मूलाधार बनाया है।

सेक्स को महत्व 'उग्र' आदि ने भी दिया था। जैनेन्द्र, अज्ञेय आदि में भी इसकी प्रधानता देखी जा सकती है। परन्तु 'उग्र' ने सुधार-भावना के जोश में यौन-सम्बन्धों का चित्रण किया था न कि उसमें स्वयं रस ले-लेकर। 'पहाड़ी' आदि ने सेक्स के स्वरूप को ही बदल देने का प्रयत्न किया है। प्रो० वासुदेव ने पहाड़ी की आलोचना करते हुए लिखा है कि—"पहाड़ी ने बहु-पत्नीत्व को समाज के लिए अभिशाप नहीं माना। इन्होंने पाप और पुण्य की पुरानी नैतिक तुला पर आज के नारी-पुरुष के यौन-सम्बन्ध को तौलने की

चेष्टा नहीं की। इसका आधार भी साम्यवादी सिद्धान्त है जो भारतीयों के लिए सर्वथा नवीन और अद्भुत है।" इस वक्तव्य का अन्तिम वाक्य विचारणीय है। न मालूम प्रो० वासुदेव को यह इलहाम कैसे हुआ कि "इसका आधार भी साम्यवादी सिद्धान्त है।' जबकि वास्तविकता यह है कि साम्यवाद इस अनैतिकता का घोर विरोधी है। प्रो० वासुदेव के इस भ्रम का कारण कदाचित उन आलोचकों का वह दृष्टिकोण रहा है जिन्होंने किसी भी सामाजिक बन्धन का उल्लंघन करने वाले लेखकों को प्रगतिवादी घोषित कर दिया था। प्रगतिवाद की प्रारम्भिक स्थिति में प्रगतिवाद की बात करना एक फैशन और शीघ्र प्रसिद्धि प्राप्त करने का एक साधन सा बन गया था। जिस प्रकार १४ अगस्त सन् १९४७ तक घोर अंग्रेज भक्त बने रहने वाले भारतीय अवसरवादी व्यक्ति १५ अगस्त सन् १९४७ को एकाएक खद्दर धारण कर उत्कट देशभक्त और कांग्रेसी बन गए थे, उसी प्रकार प्रगतिवाद की लहर आते ही और उस पर फ्रॉयड का आंशिक प्रभाव देखकर काम-वासना से रात दिन पीड़ित रहने वाले कुछ जोशीले नवयुवक फ्रॉयड को अपना मसीहा मानकर उसके पक्के चेले बन बैठे थे।

सतत जागरुक रहने वाले मार्क्सवादी आलोचकों—डा० रामविलास शर्मा आदि ने इस यौन-प्रधान प्रवृत्ति का गहरा विरोध करते हुए इस प्रवृत्ति को सामाजिक विकास के लिए घातक माना था। डा० शर्मा ने यौन-सम्बन्धों का अश्लील चित्रण करने वाले लेखकों को प्रतिक्रियावादी घोषित कर उनकी निन्दा की थी। अस्तु,

पहाड़ी ने दो प्रकार की कहानियाँ लिखीं हैं—(१) सेक्स प्रधान, तथा (२) चरित्र प्रधान। चरित्र प्रधान कहानियों की संख्या कम है। प्रधानता सेक्स-प्रधान कहानियों की ही है। इन कहानियों की मूल संवेदना सेक्स ही है। डा० लक्ष्मीनारायण लाल ने पहाड़ी की इसी सेक्स-प्रधानता की आलोचना करते हुए लिखा है—"इस समस्या को भी इन्होंने केवल एक सीमित क्षेत्र में लिया है। प्रायः सभी कहानियों के कथानक काम-वासना के द्वन्द्व में विकसित होकर उसकी चरम परिणति पर समाप्त होते हैं। चरित्र-अवतारणा की भी दिशा में सभी चरित्र केवल दो पक्षों से सामने आते हैं। कुछ पुरुष चरित्र प्रायः धनी उच्च

वर्ग के हैं और प्रतिष्ठित हैं, लेकिन काम-वासन में असमर्थ हैं। इनके स्थान की पूर्ति प्रायः निम्नवर्ग के गरीब युवक करते हैं । स्त्री चरित्र केवल शारीरिक आदि वासना की भूख और अतृप्ति के धरातल से अवतरित हुए हैं " इससे यह सिद्ध होता है कि पहाड़ी ने अपनी कहानियों में नग्न वासना, शारीरिक भूख, अतृप्ति और यौन-विकारों का ही चित्रण किया है।

इस चित्रण के सम्बन्ध में पहाड़ी का अपना एक विशिष्ट दृष्टिकोण है। उनका कहना है कि सत्य का खुला वर्णन न करना एक नैतिक अपराध है। उन्होंने स्वयं लिखा है कि—"नग्न चीज वैसे वीभत्स लगती है, पर मुँह छिपाकर चलना एक नैतिक अपराध है।" यदि इस दृष्टिकोण को स्वीकार कर लिया जाय तो फिर हिन्दी आलोचकों द्वारा कुशवाहा कान्त, प्यारेलाल आवारा, गोविन्द सिंह आदि हिन्दी के कथाकारों की इतनी उपेक्षा और भर्त्सना क्यों की गई ? कलाहीन यथार्थ साहित्य नहीं माना जा सकता । साहित्य का अपना एक जन कल्याणकारी उद्देश्य रहता है। परन्तु पहाड़ी का इस नग्न-चित्रण में क्या उद्देश्य रहा है ? वे इसके द्वारा समाज का क्या कल्याण करना चाहते हैं ? यह समझ में नहीं आता । नवीनता का जोश कभी-कभी बड़ा घातक होता है। अंग्रेजी-साहित्य में डी० एच० लारेन्स जैसे नग्नतावादी कथाकारों ने नग्न यौन-सम्बन्धों का चित्रण फ्रॉयड से प्रभावित होकर ही किया था। उन जैसे लेखकों ने फ्रॉयड के मनोविश्लेषण, स्वप्न-सिद्धान्त और काम-भावना को ही अपने कथा साहित्य के माध्यम से व्यक्त किया था । फलस्वरूप उनकी पुस्तकें वर्जित घोषित करदी गई थीं क्योंकि उन्हें प्रभाव की दृष्टि से समाज के लिए घातक माना गया था। हिन्दी में जिस प्रकार मथुरा और हाथरस से प्रकाशित होने वाला अश्लील साहित्य जब्त कर लिया जाता है उसी प्रकार द्वारिका प्रसाद शर्मा द्वारा रचित उपन्यास 'घेरे के बाहर' को भी जब्त और वर्जित घोषित कर दिया गया था। वस्तुस्थिति यह है कि डी० एच० लारेंस, पहाड़ी, द्वारिका प्रसाद मिश्र आदि लेखकों ने ही फ्रॉयड को सबसे अधिक बदनाम किया है और उसके प्रति भ्रम फैलाया है । अयोग्य शिष्य योग्य गुरु की बदनामी फैलाने में सबसे आगे रहते हैं। पहाड़ी आदि भी उस मानववादी महान् मनीषी फ्रॉयड के ऐसे ही अयोग्य शिष्य हैं।

पहाड़ी ने अपनी कहानियों में नर-नारी के समस्त रूपों और सम्बन्धों में से केवल उनके लैंगिक सम्बन्ध को ही चित्रित किया है। इस सीमित यौनवाद को अपनाने का प्रभाव पहाड़ी की कहानी-कला पर भी विकृत ही पड़ा है। उनकी सेक्स-प्रधान कहानियों का कथा-विधान और चरित्र-विधान दोनों ही निम्न कोटि के बन पड़े हैं। डा० लाल इस कमी का कारण यह मानते हैं कि— "सेक्स की दिशा में फ्रॉयड ने जिस मनोविश्लेषण पद्धति को दिया है, उसका प्रयोग कहीं भी पहाड़ी की कला में नहीं है।" समष्टि रूप से पहाड़ी की कहानियों का कथा-विधान साधारण है। उसमें कहीं भी नवीनता, आकर्षण और चमत्कार नहीं दिखाई पड़ता। कथा-विधान के ही समान उनके चरित्र भी सीमित और साधारण ही हैं। इन चरित्रों में सभी काम-भावना से पीड़ित हैं। संक्षेप में, पहाड़ी को प्रकृतिवादी कहानीकारों की कोटि में रखा जा सकता है।

परन्तु पहाड़ी की कहानी-कला का एक उज्ज्वल पक्ष भी है जो उनकी चरित्र-प्रधान कहानियों में दिखाई पड़ता है। इन कहानियों में पहाड़ी को विशेष सफलता प्राप्त हुई है। यद्यपि ये कहानियाँ हैं फ्रॉयड से ही प्रभावित परन्तु इनमें पहाड़ी ने फ्रॉयड की उस मनोविश्लेषण पद्धति को अपनाया है जो अस्पष्ट से अस्पष्ट, संश्लिष्ट से संश्लिष्ट और अवचेतन जगत की गुत्थियों को सुलझाती है। इनमें स्वप्न-सिद्धान्त आदि का आधार लिया गया है। इसी कारण इस प्रकार की चरित्र-प्रधान कहानियों में नग्न-वासना, शारीरिक भूख और यौन-विकारों आदि का चित्रण नहीं हुआ है। परन्तु पहाड़ी की ऐसी कहानियों की संख्या थोड़ी सी है। कहानी-कला की दृष्टि से पहाड़ी की इन कहानियों को कलात्मक और प्रभावशाली माना जा सकता है। उनकी इस वर्ग की प्रतिनिधि कहानी 'तमाशा' मानी जाती है।

'तमाशा' एक मनोवैज्ञानिक कहानी है। इसमें सत्या और सुशीला नामक दो अभिन्न सहेलियों के मन का विश्लेषण फ्रॉयड के स्वप्न-सिद्धान्त के आधार पर किया गया है। कहानी का विकास बड़े कलात्मक ढङ्ग से हुआ है। 'नाटकीय आरम्भ, विश्लेषणात्मक विकास और अप्रत्याशित अन्त' द्वारा कहानी निखर उठी है। वर्णन, संवाद, आदि सभी दृष्टियों से पहाड़ी की इस तथा इस वर्ग की अन्य कहानियों को सफल कहानी माना जा सकता है।

पहाड़ी की प्रारम्भिक कहानियों में नग्न-चित्रण की प्रधानता रहने के कारण लेखक की सारी शक्ति और ध्यान उसी चित्रण में लगा रहा है, इसी कारण कला की अवहेलना सी हुई है। परन्तु जैसे-जैसे पहाड़ी आगे बढ़ते गए हैं उनकी कला में निखार आता चला गया है। उनकी चरित्रप्रधान कहानियाँ बाद की ही रचनायें हैं।

भाषा की दृष्टि से भी उनमें उत्तरोत्तर विकास होता चला गया है। प्रारम्भ में भाषा का रूप शिथिल, उखड़ा हुआ सा तथा शैली नीरस और बोझिल रही है। परन्तु आगे चलकर भाषा में स्वाभाविकता, परिस्कृति, सुबोधता, सरलता और प्रवाह आदि गुणों का समावेश होता चला गया है। संवाद भी संक्षिप्त, सारगर्भित और स्वाभाविक हो गए हैं। शैली में कसाव आगया है। उनकी नवीन कहानियाँ कला की दृष्टि से काफी निखर आई हैं। उनकी भाषा व्यावहारिक बोलचाल की तथा मुहावरों-कहावतों से समृद्ध है। यहाँ तक कि मनोविश्लेषण करते समय भी कहीं लड़खड़ाती नहीं। उसका रूप सहज स्वाभाविक ही रहता है। शैली में प्रवाह और प्रभाव दोनों गुण आगए हैं।

समष्टि रूप से पहाड़ी को हिन्दी के प्रसिद्ध कहानीकारों में स्थान दिया जा सकता है। पहाड़ी की प्रसिद्धि का मूलाधार उनका नग्न चित्रण ही रहा है। नग्न चित्रण पाठकों को आकर्षित करता है और ऐसा लेखक थोड़े ही समय में प्रसिद्ध हो जाता है।

आचार्य चतुरसेन शास्त्री

कहानियों की संख्या की दृष्टि से हिन्दी में सबसे अधिक कहानियाँ लिखने वाले सम्भवतः आचार्य चतुरसेन शास्त्री ही हैं। इन्होंने हिन्दी में लगभग साढ़े चार सौ कहानियाँ लिखी हैं। प्रेमचन्द की हिन्दी-उर्दू दोनों भाषाओं की कहानियों की संख्या शायद इस संख्या से कुछ कम ही होगी। विविधता की दृष्टि से भी शास्त्री जी हिन्दी के अन्य कहानीकारों से पीछे नहीं हैं। इतना होने पर भी हिन्दी के अधिकांश आलोचकों ने इन्हें कहानीकार के रूप में अधिक महत्व नहीं दिया है। जिन आलोचकों ने इन्हें महत्व दिया भी है उन्होंने इनके कहानी-साहित्य के सम्पूर्ण पक्षों पर प्रकाश न डाल कर एकांगी विवेचन ही किया है। शास्त्री जी ने मुख्य रूप से दो प्रकार की कहानियाँ लिखी हैं—ऐतिहासिक और सामाजिक। डा० लक्ष्मी नारायण लाल ने इनकी ऐतिहासिक कहानियों को ही प्रधानता देकर इनकी गणना प्रसाद-संस्थान के प्रमुख कहानीकारों में की है और इनकी सामाजिक कहानियों के सम्बन्ध में चुप्पी सी साध गए हैं। शिवदान सिंह चौहान ने इनकी सामाजिक कहानियों का ही विवेचन कर इनकी ऐतिहासिक कहानियों के प्रति मौन सा साध लिया है। डा० श्री कृष्णलाल ने इन्हें प्रकृतवादी (Naturalistic) कहानीकार ही मानकर इनकी गणना 'उग्र' आदि के साथ की है। इन एकांगी दृष्टिकोणों और सीमित अध्ययन के कारण ही कहानीकार शास्त्री जी की कहानी कला का समग्र मूल्यांकन नहीं हो सका है।

शास्त्री जी हिन्दी की पहली पीढ़ी के कहानीकार हैं। इन्होंने बीसवीं सदी के प्रथम दशक के प्रारम्भ से ही कहानियाँ लिखना प्रारम्भ कर दिया था और

अपने अन्तिम समय (सन् १९६०) तक निरंतर कहानियाँ लिखते रहे थे। कहानियों के अतिरिक्त शास्त्री जी ने अनेक लघु और विशालकाय उपन्यास, गद्य काव्य, साहित्य का इतिहास, वैद्यक आदि पर भी अनेक ग्रंथों का सृजन किया है। शास्त्री जी पेशे से पहले वैद्य थे। वैद्यक के साथ-साथ उनकी लेखनी भी अनवरत रूप से चलती रहती थी। प्रारम्भ में इनकी जीविका का साधन वैद्यक ही थी परन्तु आगे चल कर इन्होंने धीरे-धीरे वैद्यक का काम करना कम कर दिया और पूरी तरह से साहित्य-सेवा में जुट गए। वैद्यक के पेशे से शास्त्री जी को अपरिमित लाभ हुआ था। चिकित्सा के लिए उन्हें बड़े-बड़े रजवाड़ों में जाना पड़ता था। इससे उन्हें अनेक रजवाड़ों के रहस्यों का परिचय मिला जो अनेक कहानियों का रूप धारण कर साहित्य में उतर आया। शास्त्री जी ने अपने इन्हीं अनुभवों के आधार पर 'गोली' जैसा लोकप्रिय उपन्यास लिखा जो रजवाड़ों के आन्तरिक जीवन पर एक अधिकारी रचना मानी जाती है।

हिन्दी के अनेक कथाकारों के समान शास्त्री जी को भी हिन्दी के आलोचकों से शिकायत और घृणा रही है। इस शिकायत और घृणा के कई कारण रहे हैं। हिन्दी के आलोचकों ने इन्हें न तो हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार ही घोषित किया, जैसा कि इनका स्वयं दावा था। और न इनकी गणना हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कहानीकारों में ही की। इनकी कहानियों की हिन्दी में बहुत कम चर्चा हुई है। शास्त्री जी के ही शब्दों में—''शूरवीर समालोचकों ने एक प्रकार से मेरा वायकाट-सा ही कर रखा है।' और शास्त्री जी इसका कारण हिन्दी के समालोचकों का अध्ययनशील न होना ही मानते हैं।

हिन्दी में शास्त्री जी की कहानियों की अधिक चर्चा न होने का प्रधान कारण यह रहा है कि ये हिन्दी में प्रमुख रूप से प्रकृतवादी कहानीकार के रूप में ही अधिक प्रसिद्ध रहे हैं। 'उग्र' ने भी प्रकृतवादी कहानियाँ लिखीं थीं परन्तु उग्र अपनी सुगठित लाक्षणिक शैली और फड़कीली भाषा तथा उद्देश्य की उग्रता और तीखेपन के कारण हिन्दी-साहित्य में छा-से गए थे। शास्त्रीजी में यह गुण नहीं थे। शास्त्री जी की बदनामी उनके अश्लील चित्रण के कारण अधिक हुई। शिवदानसिंह चौहान के शब्दों में—'' 'उग्र' की तरह आचार्य

चतुरसेन शास्त्री ने भी सामाजिक कुरीतियों का खुलकर भंडा फोड़ किया है, लेकिन आपकी कहानियों में न 'उग्र' की शैली का कसाव है, और न सहज तीव्रता ही। 'उग्र' के वर्णन प्रकृतिवादी उतने नहीं होते, जितने शास्त्री जी के।" साहित्य के कुछ कर्णधारों ने उग्र के साहित्य को 'घासलेटी साहित्य' करार देकर उग्र का घोर विरोध किया था। चतुरसेन शास्त्री ने भी उस काल में कुछ ऐसी सामाजिक कहानियाँ लिखीं थीं जिनमें मानवता की लज्जास्पद और घृणाप्रद बातें थोड़े-बहुत अश्लील चित्रण के साथ कही गई थीं। जब उग्र पर आक्रमण हुआ तो उसकी लपेट में शास्त्री जी भी आ गए और तब से हिन्दी में अश्लीलतापूर्ण कहानियाँ लिखने के लिए बदनाम और मशहूर हो गए।

शास्त्री जी ने लिखना सन् १९०६ से ही प्रारंभ कर दिया था। प्रारम्भ में कविता तथा गद्य की अन्य छोटी-छोटी पुस्तकें लिखा करते थे। इनकी पहली कहानी सन् १९१४ में 'गृह लक्ष्मी' नामक पत्रिका में प्रकाशित हुई थी। सन् १९१७ में इनकी प्रसिद्ध कहानी 'दुखवा मैं कासे कहूँ' 'सुधा' में प्रकाशित हुई और इस कहानी पर इन्हें पहली बार पारिश्रमिक के रूप में पाँच रुपए प्राप्त हुए। इस पारिश्रमिक से प्रेरणा प्राप्त कर इन्होंने निरन्तर कहानियाँ लिखना प्रारम्भ कर दिया। शास्त्री जी का स्वयं कहना है कि—"इस समय तक मुझे न तो अपनी रचनाओं का कुछ साहित्यिक मूल्य ही ज्ञात था, न मैं कला के सम्बन्ध में कुछ समझता था। लिखने की परिपाटी भी मेरी आप ही विकसित होती जा रही थी।"

शास्त्री जी की कहानियों की संख्या यद्यपि इतनी विशाल है परन्तु उनकी कहानियों के अधिक संग्रह प्रकाश में न आ सके। कुछ समय पहले तक उनके केवल तीन ही कहानी-संग्रह उपलब्ध थे—१—रजकरण, २—अक्षत', और ३—मेरी प्रिय कहानियाँ। उनकी शेष कहानियाँ इधर-उधर पत्र-पत्रिकाओं में ही बिखरी पड़ी रहीं। इधर हिन्दी के कुछ समझदार प्रकाशकों ने हिन्दी के पुराने कहानीकारों की कहानियों के नवीन संग्रह प्रकाशित करने प्रारम्भ किए हैं। इस प्रयत्न के फलस्वरूप विनोद पुस्तक मन्दिर,

ग्रागरा से कौशिक जी का समस्त कहानी-साहित्य, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली से भगवती प्रसाद वाजपेयी की समस्त कहानियाँ तथा राजपाल एन्ड सन्स, दिल्ली से ग्राचार्य चतुरसेन शास्त्री की समस्त कहानियों के विविध-संग्रह प्रकाश में ग्राए हैं। हिन्दी के प्रकाशकों का यह प्रयत्न सराहनीय है। 'राजपाल एन्ड सन्स' ने ग्रभी तक शास्त्री जी की कहानियों के तीन ही संग्रह—१—बाहर-भीतर, २—दुखवा मैं कासे कहूँ, ग्रौर ३—धरती ग्रौर ग्रासमान—ही प्रकाशित कर पाए थे कि २ फरवरी १९६० को एकाएक शास्त्री जी का स्वर्गवास हो गया। परन्तु उक्त प्रकाशक महोदय शास्त्री जी की सम्पूर्ण कहानियों को छापने के लिए कटिबद्ध हैं।

विषय की दृष्टि से शास्त्री जी की कहानियों को निम्नलिखित वर्गों में विभाजित किया जा सकता है।

ऐतिहासिक—बौद्ध, राजपूत ग्रौर मुगल कालीन इतिहास पर ग्राधारित कहानियाँ, सामाजिक, समस्या-प्रधान, राजनीतिक, प्रेम, पारिवारिक, भाव ग्रौर कौतुक ग्रादि।

शास्त्री जी की प्रारम्भिक कहानिहाँ प्रायः ऐतिहासिक ही रही हैं। इन ऐतिहासिक कहानियों में 'प्रबुद्ध', 'ग्राचार्य उपगुप्त' ग्रादि बौद्ध कालीन, 'लाला रूख', 'बावर्चिन', 'ग्रबुलफजल वध', 'दुखवा मैं कासे कहूँ' ग्रादि मुगल कालीन तथा 'रूठी रानी', 'कुम्भा की तलवार', 'जैसलमेर की राजकुमारी', 'वाणवधू' 'हल्दीघाटी', 'वीर बादल' ग्रादि राजपूत कालीन ऐतिहासिक कहानियाँ हैं। 'नबाब ननकू' इनकी भाव-प्रधान मनोवैज्ञानिक कहानी है। 'द्वितीया' में विवाहित पति ग्रौर एक कुमारी युवती के मानसिक घात-प्रतिघात का हृदय-ग्राही चित्रण है। 'पुरुषत्व' में प्रेम ग्रौर वेश्या-जीवन की वास्तविक भावनाग्रों का ग्रङ्कन किया गया है। 'कन्यादान' में ग्रार्यसमाज के निर्बल सुधार-पक्ष पर करारा व्यंग है। 'वर्मा रोड' द्वितीय महायुद्ध के समय की एक ऐसी कहानी है जिसमें एक चतुर ग्रंग्रेज सेनापति ग्रासाम के एक दुर्दान्त दस्यु-सरदार को ग्रपनी नीति द्वारा विजय कर उससे 'वर्मा रोड' का निर्माण करवाता है।

उपर्युक्त थोड़े से उदाहरणों से यह सिद्ध हो जाता है कि शास्त्री जी ने समाज के बहुमुखी जीवन ग्रौर क्षेत्रों से ग्रपनी कहानियों के लिए विषय

सामग्री का चयन किया है। शास्त्री जी ने कुछ कहानियाँ ऐसी लिखी थीं जिनमें उन्होंने अनेक रजवाड़ों एवं उच्च घरानों के भीतरी रहस्यों का भंडा-फोड़ किया था जैसे 'ठकुराइन', 'अकस्मात्', 'कन्यादान', 'मुहब्बत', 'जैन्टिल-मैन', आदि। अपने रचना-काल के उत्तरार्द्ध में आकर शास्त्री जी ने कुछ नए ढङ्ग की कहानियाँ लिखीं थीं, जैसे---दूध की धार', 'धरती और आसमान', 'नहीं', 'युगलांगुलीय' आदि। इनको भावप्रधान कहानियाँ माना जा सकता है। शास्त्री जी के अनुसार—"इन कहानियों में न कथा है, न घटनायें हैं, न अन्त। न संयोग है, न वियोग, न चरित्र-चित्रण। केवल भावना का अन्तर्वेग है।...इन कहानियों में सोद्देश्य भावना की सर्वथा समाप्ति हो जाती है और कलापक्ष ही निखर जाता है। परन्तु चाहे मेरी कथा में कोई उद्देश्य हो या केवल कला का ही विकास हो, उनमें जीवन की व्याख्या अवश्य रहती है।"

कहानियाँ लिखने में शास्त्री जी ने बड़ा परिश्रम किया है। उन्होंने कुछ कहानियाँ तो एक ही बैठक में समाप्त कर डालीं थीं परन्तु कुछ कहानियों को लिखने में उन्हें कई-कई मास लग गए थे। उनकी राजनीतिक कहानी 'जीवन्मृत' एक वर्ष में पूर्ण हुई थी। ऐतिहासिक कहानी 'अम्बपाली' छः मास में समाप्त हुई थी। 'पतिता' ने आठ महीने लिए थे। 'आचार्य उपगुप्त' तथा 'प्रबुद्ध' आठ-नौ मास में समाप्त हुई थीं। 'तन्मय' जैसी चार-पाँच पृष्ठों की छोटी सी कहानी सात-आठ बार लिखी गई थी और चार मास में समाप्त हुई थी। 'द्वितीया' ने पाँच मास और 'नवाब ननकू' ने ढाई मास लिए थे। इसके विप-रीत 'तिकड़म', 'ठाकुर साहब की घड़ी', 'प्राइवेट सेक्रेटरी', 'मरम्मत' और 'अकस्मात' कहानियाँ एक-एक बैठक में ही समाप्त कर ली गई थीं। इस विव-रण से ज्ञात होता है कि शास्त्री जी अपनी कहानियाँ लिखने में कितना परिश्रम करते थे और कितना समय लगाते थे।

शास्त्री जी कहानियाँ कैसे लिखते थे इसका उन्होंने बड़ा मार्मिक और रोचक विवरण स्वयं ही दिया है। उन्होंने लिखा है कि—"...अपनी कहानी के साथ मैं बहुत काल तक रहता हूँ। मैं उसमें डूबता हूँ। उसे घिल-मुल कर डालता हूँ। फिर उसे रस्सी की भाँति उमेठ डालता हूँ। उसके बाद उसे रुई की तरह धुनता हूँ। कहानी के साथ ही अपने हृदय और मस्तिष्क की भी मैं

यही गत बना डालता हूँ। फिर कहानी और मैं एक हो जाते हैं। तब मैं उसके साथ रोता, हँसता, गाता और नाचता हूँ। कहानी के पात्रों को जब इच्छा होती है, मुझसे सलाह लेते हैं और कहीं मेरी गाड़ी अटकती है, तो मैं उनकी सलाह लेता हूँ।"

शास्त्री जी जब कहानियाँ लिखने बैठते थे तो या तो अपने को कमरे में बन्द कर लेते थे या रात के दो बजे, जब चारों ओर सन्नाटा रहता था, तब लिखते थे। उनकी इस एकान्तप्रियता का कारण यह था कि कहानी लिखते समय जब भावावेग का अवसर आता था तो उनकी आँखों से सावन-भादों की सी झड़ी लग जाती थी। उनकी यह 'जनानी आदत' अन्त समय तक बनी रही थी। इसी कारण वे कहानियाँ किसी के सामने न लिख कर सदैव एकान्त में ही लिखा करते थे और अपनी उस दुर्दशा के स्वयं अकेले ही दर्शक होते थे।

उपर्युक्त विवेचन से प्रकट होता है कि शास्त्री जी अपनी कहानियाँ लिखने में कितने तन्मय हो जाया करते थे।

शास्त्री जी ने ऐतिहासिक कहानियाँ काफी लिखीं हैं। ऐतिहासिक कथाओं के सम्बन्ध में शास्त्री जी का अपना एक विशिष्ट दृष्टिकोण रहा है जिसके आधार पर उन्होंने काव्य के नौ निर्दिष्ट रसों के साथ एक अनिर्दिष्ट रस 'इतिहास रस' की स्थापना की थी। शास्त्री जी के अनुसार—"साहित्यकार का काम इतिहास की विवेचना करना नहीं है। इसलिए साहित्य के सत्य में और इतिहास के सत्य में तादात्म्य नहीं हो सकता। इतिहास का सत्य चिर सत्य है। इसका अभिप्राय है कि अमुक काल में ऐसा हुआ, परन्तु साहित्य का सत्य स्थिर सत्य है। उसका अभिप्राय यह है कि अमुक काल में ऐसा होता था।...साहित्यकार इतिहास के तथ्यों को यथावत् वर्णन करने के लिए बाधित नहीं है। वह अपनी कल्पना और भावनाओं का पूरा विकास कर सकता है।"

शास्त्री जी के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने अपनी ऐतिहासिक कहानियों में केवल इतिहास का चित्रण न कर वर्णित युग की भावनाओं, धारणाओं तथा व्यापक व्यंजनाओं को ही कहीं ऐतिहासिक पात्रों के माध्यम से तथा कहीं तत्कालीन ऐतिहासिक वातावरण में कल्पित पात्रों के माध्यम से चित्रित करने का प्रयत्न किया है। कुछ कहानियों में केवल पात्रों और स्थानों के

नाम ही ऐतिहासिक हैं, शेष सारा वर्णन विशुद्ध रूप से काल्पनिक है। परन्तु इस कल्पना का आधार या उद्देश्य केवल मनोरंजन न होकर जीवन की गम्भीर व्याख्या करना ही रहा है। ये पात्र गहन मानवीय तत्वों की अभिव्यक्ति करते हैं। इन कहानियों में जातियों, व्यक्तियों, वंशों के उत्थान-पतन, विनाश और विलय के रेखाचित्र हैं। इन समस्त ऐतिहासिक कहानियों में से शास्त्रीजी की रुचि राजपूती कहानियों में अधिक रमी है। राजपूतों के अप्रतिम ओज, आत्म-गौरव, वीरता, कर्त्तव्य, धैर्य, साहस, आत्म त्याग आदि गुणों ने शास्त्रीजी को विशेष रूप से आकर्षित किया था। शास्त्रीजी के शब्दों में—"राजपूत मृत्यु के व्यवसायी जीवित नर-नाहर थे। उन्होंने अमर-जीवन के सिद्धान्तों को समझ लिया था। वे मृत्यु से कभी नहीं डरे, वृद्ध होने पर कभी पुराने नहीं हुए। क्रोध और हास्य के वे अधिष्ठाता थे। दैन्य और रुदन उनके पास न था।" इससे प्रकट होता है कि राजपूत जाति के प्रति शास्त्रीजी की कितनी गहन श्रद्धा थी। राजपूती-जीवन से सम्बन्धित उनकी कहानियों में उनकी इसी श्रद्धा के अन्तर्वेग के कारण ही सजीवता आ गई है।

राजपूत और मुगल समकालीन थे। दोनों में घनिष्ठ सम्बन्ध और विरोध रहा था। इसी सम्बन्ध के कारण शास्त्री जी का ध्यान मुगल इतिहास के प्रति भी गया और उन्होंने बिना किसी पक्षपात के, पूर्ण सहृदयता के साथ मुगल-जीवन पर भी कई सुन्दर ऐतिहासिक कहानियाँ लिखीं, जैसे—'दुखवा मैं कासे कहूँ', 'दे खुदा की राह पर', 'सोया हुआ शहर', 'लाला रुख' 'नवाब कुदसिया बेगम', 'बावर्चिन' आदि। इनमें शास्त्री जी ने शुद्ध सात्विक् भाव दर्शन और चरित्र-चित्रण के साथ मानव-मन के अन्तर्द्वन्द्वों का चित्रण किना। इनके द्वारा मुगल-संस्कृति के गौरवमय अङ्ग प्रकाश में आए।

भारत के प्राचीन इतिहास ने शास्त्रीजी को बहुत आकर्षित और प्रभावित किया था। शास्त्री जी भारत की प्राचीन संस्कृति के पुजारी थे। बौद्ध युग का उनका अध्ययन विशाल था और यही अध्ययन 'अम्बपाली', 'आचार्य उपगुप्त', 'भिक्षुराज' जैसी श्रेष्ठ कलात्मक कहानियों के रूप में प्रकट हुआ। इनमें 'भिक्षुराज' सर्वाधिक प्रसिद्ध और शिल्प-विधान की दृष्टि से परिपूर्ण कहानी मानी जाती है।

इसके उपरान्त शास्त्री जी की वे कहानियाँ सामने आती हैं जिनमें उन्होंने सामाजिक रूढ़ियों, अन्ध-विश्वासों, वेश्या-जीवन आदि पर भयङ्कर और तीखे प्रहार किए थे। दरअसल वेश्याओं से सम्बन्धित कहानियों ने ही शास्त्री जी को आलोचकों की नज़रों में 'प्रकृतवादी' कहानीकार बना दिया था। इन कहानियों में नग्न-चित्रण होने के कारण इनका विरोध किया गया था और यह विरोध इतना उग्र हुआ कि हिन्दी के अधिकांश पाठक शास्त्री जी को केवल इन्हीं कहानियों के कहानीकार के रूप में ही जानने और स्मरण करने लगे। शास्त्री जी के 'अक्षत' नामक कहानी-संग्रह में उनकी प्रकृतिवादी कहानियों की संख्या ही अधिक है। इन कहानियों के पात्र वेश्यायें, गुंडे तथा भ्रष्ट आचरण वाले व्यक्ति हैं। इन पात्रों के माध्यम से शास्त्रीजी ने हमारी सामाजिक कुरीतियों का पर्दा-फाश करने का उग्र प्रयत्न किया है परन्तु अपने इस प्रयत्न में वे कहीं-कहीं संयम और शालीनता की सीमाओं का उल्लंघन कर गए हैं। इनमें लेखक का मूल दृष्टिकोण सुधार का ही रहा है परन्तु नग्न-चित्रण और वीभत्स दृश्य किशोरवय पाठकों पर ही नहीं बल्कि वयस्क पाठकों के मन-मस्तिष्क पर भी बुरा प्रभाव डालते हैं। ये वर्णन कहीं-कहीं ऐसे अश्लील हो गए हैं कि पाठक उन्हीं में उलझ कर रह जाता है। इस प्रकार ये कहानियाँ सुधार-भावना का प्रचार न कर अप्रत्यक्ष रूप से विकृत भावनाओं को ही अधिक उभारती हैं। अश्लीलता काव्य में दोष मानी गई है। प्रकृत-चित्रण का बहाना लेकर जो लेखक यौन-सम्बन्धों का खुला वर्णन करते हैं वे इस काव्य-दोष के भागी तो होते ही हैं, साथ ही विकृति के प्रचारक भी बन जाते हैं। शास्त्रीजी की यह अश्लील प्रवृत्ति केवल उनकी कुछ ही कहानियों में दिखाई पड़ती है। उनकी अन्य सामाजिक, समस्या-प्रधान तथा अन्य प्रकार की कहानियों में इस विकृति के कहीं भी दर्शन नहीं होते। इनमें तथा ऐतिहासिक कहानियों में उनका दृष्टिकोण स्वस्थ और कला की सबलता को लेकर अभिव्यक्त हुआ है। इसी कारण डा० लक्ष्मी नारायण लाल ने शास्त्री जी की गणना प्रसाद-संस्थान के प्रमुख कहानीकारों में की है। इसका कारण यह है कि इनकी कहानी-कला में कल्पना, स्वच्छन्दता, मनोरमता, भावात्मकता आदि वे सभी गुण मिलते हैं जो प्रसाद की कहानी-कला की विशेषता माने जाते हैं।

शिल्प-विधान की दृष्टि से शास्त्री जी ने छोटी-बड़ी दोनों प्रकार की कहानियाँ लिखी हैं। इनकी कुछ कहानियाँ बीस-पच्चीस पृष्ठों में समाप्त होती हैं तथा कुछ चार-पाँच पृष्ठों में ही। कुल मिलाकर इनकी छोटी कहानियों की संख्या ही अधिक है। इनकी कहानी कला का सर्वोन्नत रूप इनकी ऐतिहासिक कहानियों में ही दिखाई पड़ता है जिनका निर्माण कल्पना और इतिहास के इतने रूमानी धरातल से किया गया है कि ये कहानियाँ हिन्दी साहित्य में सदा अमर रहेंगी। आलोचकों ने इनकी "दुखवा मैं कासे कहूँ" कहानी को इनकी सर्वश्रेष्ठ कहानी घोषित कर उसे ही अधिकांश कहानी-संग्रहों में स्थान दिया है। परन्तु शास्त्री जी तेतालीस वर्ष पूर्व की इस रचना को उनकी सर्वश्रेष्ठ कहानी घोषित करने वालों को मूढ़ समझते थे। उनका कहना था कि क्या इन तेतालीस वर्षों में मैंने घास ही छीली थी जिससे प्रगति न कर सका। परन्तु यहाँ हम इस विवाद में न पड़कर केवल यही कहना चाहेंगे कि लेखकों और आलोचकों में सदैव मतभेद रहता आया है जो स्वस्थ प्रगति का ही प्रतीक रहा है। अस्तु,

शास्त्री जी की ऐतिहासिक तथा सामाजिक सभी प्रकार की कहानियों में कथानकों का निर्माण क्रमबद्ध स्वाभाविक घटनाओं द्वारा किया गया है और कल्पना, नाटकीय परिस्थितियों, संयोगों तथा आदर्श आदि तत्वों के अद्‌भुत समन्वय द्वारा इन कहानियों का शिल्प निखर उठा है। इनकी कला का चमत्कार इनकी छोटी कहानियों में ही अधिक दिखाई पड़ता है। इन कहानियों के कथानकों का विकास बड़े कलात्मक ढंग से होता है। शास्त्री जी एक कुशल और मँजे हुए कहानी कहने वाले हैं, इसलिए उनके कथानकों में कहीं भी शिथिलता न मिल कर सर्वत्र एक अद्‌भुत क्रमबद्धता और कसाव मिलता है। वे प्रायः अपनी कहानी का प्रारम्भ पात्रों और परिस्थिति तथा वातावरण के परिचय के साथ करते हैं। किसी-किसी कहानी का प्रारम्भ केवल वातावरण के चित्रण के साथ भी होता है परन्तु अधिकाँशतः वातावरण कहानी की पृष्ठ भूमि के रूप में ही अधिक प्रयुक्त हुआ है। कथानक के मध्य भाग में कुतूहल वर्धक और जिज्ञासामूलक घटनाओं और परिस्थितियों द्वारा वे ऐसा आकर्षण उत्पन्न कर देते हैं कि पाठक कहानी के अन्त तक खिचा हुआ सा चला जाता है। अपने

चरम विन्दु पर पहुँच कर कहानी समाप्त हो जाती है। कहीं-कहीं उन्होंने उपसंहार देने की पद्धति भी अपनाई है जो कहानी के प्रभाव की समग्रता में एक व्याघात सा उत्पन्न कर देती है।

परन्तु कथानक का यह कसाव, संक्षिप्तता और प्रभाव डालने की शक्ति उन की छोटी कहानियों में ही अधिक है। उनकी बड़ी कहानियों में इस क्षेत्र में उतना कसाव नहीं मिलता। 'रूठी रानी' का कथानक बहुत ही शिथिल, अस्पष्ट और प्रभाव हीन है। इन कहानियों में कहीं-कहीं असंगतियाँ भी मिलती हैं जैसे 'बर्मा रोड' शीर्षक कहानी में। परन्तु कुल मिलाकर शास्त्री जी को अपने कथानकों के निर्माण में सफलता ही प्राप्त हुई है।

अपने पात्रों का चरित्र-चित्रण करने में शास्त्री जी पूर्ण सफल हुए हैं। इनके पात्र कहीं भी लेखक की कठपुतली बने नहीं दिखाई पड़ते। उनका अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व होता है जो अन्य पात्रों के स्वतंत्र व्यक्तित्व से टकरा कर और भी अधिक निखर उठता है। शास्त्री जी के पात्र स्वाभाविक और सजीव इस कारण और अधिक बन जाते हैं क्योंकि शास्त्री जी उनके मानसिक अन्तर्द्वन्द्वों का पूर्ण तटस्थ रहते हुए चित्रण करते हैं। मनोविज्ञान के इस समावेश ने उन के पात्रों को अपनी साधारणता में भी असाधारण बना दिया है। परन्तु यह मनोवैज्ञानिक चित्रण फ्रॉयडवादी न होकर व्यावहारिक ही रहता है। अपने व्यावहारिक ज्ञान के कारण ही शास्त्री जी अपने पात्रों के मनोभावों का बड़ा सच्चा, सजीव और हृदयस्पर्शी चित्रण करने में समर्थ हो सके हैं।

कथोपकथन के क्षेत्र में शास्त्री जी ने संक्षिप्तता को ही अधिक अपनाया है। उन के संवादों में नाटकीयता, व्यंग्य आदि का भी समावेश हुआ है। साधारणतः उनके संवाद कथानक का भी विकास करते हैं और चरित्रों का उद्घाटन भी करते हैं। परन्तु कहीं-कहीं उनके संवाद संक्षिप्त होते हुए भी संख्या में इतने अधिक होते हैं जिन्हें पढ़कर पाठक ऊब उठता है। 'रूठी रानी' में दो पृष्ठों तक आधी-आधी पंक्तियों के ऐसे संवाद चलते चले गए हैं जो न तो कथा-विकास में ही सहायता करते हैं और न चरित्रोद्घाटन में ही। उनमें न नाटकीयता है और न चमत्कार ही।

वर्णन के क्षेत्र में शास्त्री जी को अवश्य अद्भुत सफलता प्राप्त हुई है।

वे अपने सभी प्रकार के वर्णनों में वर्णित वस्तु, पात्र या स्थान का एक सजीव सा चित्र खींच देते हैं। इस वर्णन में उन का ध्यान वर्णित वस्तु के सूक्ष्मतम अंग या भाग की ओर जाता है। अपने हृदयग्राही वर्णनों द्वारा शास्त्री जी ने अपनी कहानियों में एक अद्भुत आकर्षण उत्पन्न कर दिया है।.

भाषा और शैली के क्षेत्र में शास्त्रीजी एक मँजे हुए लेखक और कलाकार के रूप में सामने आते हैं। व्यावहारिकता को उनकी भाषा और शैली का प्रधान गुण माना जा सकता है। संक्षेप में उनकी भाषा सुष्ठु, प्राँजल, प्रवाह-पूर्ण और प्रभावमयी है। उसमें भावों को अभिव्यक्त करने की अपूर्व शक्ति है। संस्कृत के विद्वान होते हुए भी अपनी कहानियों में उन्होंने भाषा का रूप यद्यपि बोलचाल का सा तो नहीं रखा है, फिर भी वह पूर्णतः स्वाभाविक रहा है। शब्दों का प्रयोग करते समय शास्त्रीजी पूर्ण उदार रहे हैं। भावों को अभि-व्यक्त करने के लिए उन्होंने भाषा के सभी प्रकार के शब्दों—तत्सम्-तद्भव-देशज-को अपनाया है। विदेशी भाषाओं के शब्दों से भी उन्हें परहेज नहीं रहा है। मुस्लिम पात्र प्रायः अरबी-फारसी मिश्रित उर्दू भाषा ही बोलते हैं। बौद्ध कालीन कहानियों के पात्रों की भाषा संस्कृत-निष्ठ रही है! आधुनिक समाज जीवन के पात्र प्रायः चलती हुई, चटपटी भाषा ही बोलते हैं जिसमें प्रचलित सभी प्रकार के शब्दों का उन्मुक्त भाव से प्रयोग होता है। भाषा के इस गठन में शास्त्रीजी ने इस बात का ध्यान रखा है कि उसका स्वरूप सर्वत्र पात्र की सामाजिक स्थिति, भाव एवं परिस्थिति के ही अनुरूप रहे। इस भाषा में लाक्षणिकता मिलती तो है परन्तु इस लाक्षणिकता का वह परिष्कृत, उदात्त और सर्वजन-सुलभ रूप नहीं आ पाया है जो उग्र की भाषा की विशेषता रही है। कुल मिलाकर शास्त्रीजी की कहानियों की भाषा व्यावहारिक और शैली यथार्थवादी रही है। जहाँ वे किसी सामाजिक रूढ़ि या विकृति पर प्रहार करते हैं वहाँ इस भाषा में एक अनोखा जोश और व्यंग भर जाता है।

शास्त्रीजी मूलतः आदर्शवादी कहानीकार रहे हैं। उनकी प्रत्येक कहानी में चाहे वह ऐतिहासिक हो या सामाजिक अथवा राजनीतिक, किसी न किसी महत् उद्देश्य की प्रेरणा अवश्य रही है और यह उद्देश्य सुधार-भावना से अनुप्राणित रहा है। शास्त्री जी आर्य समाजी थे। हिन्दी के प्रारम्भिक और

विकास कालीन कथाकारों प्रेमचन्द आदि पर आर्यसमाज की सुधार भावना का गहरा प्रभाव पड़ा था। शास्त्रीजी भी उस प्रभाव से बच न सके और यह प्रभाव उन पर किसी-न-किसी रूप में अन्त तक बना रहा। उनकी सुधार-भावना उसी प्रभाव का परिणाम थी। इसके अतिरिक्त शास्त्रीजी साहित्य को सोद्देश्य मानते थे—प्रेमचन्द के ही समान। उनकी दृष्टि में साहित्य का उद्देश्य जन-कल्याण था। इन्हीं दोनों विचारों से प्रभावित होकर उन्होंने अपने कहानी-साहित्य की रचना की थी। उनकी प्रकृतवादी कहानियों के मूल में भी यही सुधार-भावना कार्य कर रही थी यद्यपि उनका प्रभाव विपरीत ही पड़ता है। फिर भी हम शास्त्रीजी को कल्पना, भावुकता, रोमानी प्रवृत्ति के आधार पर प्रसाद-संस्थान का तथा भाषा, उद्देश्य एवं चित्रण की दृष्टि से प्रेमचन्द-संस्थान का कहानीकार मान सकते हैं।

यह सत्य है कि हिन्दी में अभी तक शास्त्रीजी का उचित मूल्याङ्कन नहीं हो सका है। इसका श्रेय हिन्दी के उन स्टन्टबाज आलोचकों को दिया जा सकता है जिन्होंने शास्त्रीजी की प्रकृतवादी कहानियों का ही मूल्याङ्कन किया था और उनकी अन्य बहुसंख्यक स्वस्थ कहानियों की पूर्ण उपेक्षा की थी। आज हिन्दी के लेखकों का यह धर्म है कि वे शास्त्रीजी के साथ किए गए उस ऐतिहासिक अन्याय का परिमार्जन कर उनका उचित मूल्याङ्कन करें।

महादेवी वर्मा

गद्य यथार्थ का चितेरा होता है और पद्य कल्पना और आदर्श का। यह सत्य हिन्दी के छायावादी कवियों के साहित्य में जितनी स्पष्टता के साथ चरितार्थ हुआ है, उसका उदाहरण अन्यत्र अलभ्य है। कविता में कल्पना, आदर्श, रहस्य आदि के चितेरे छायावादी कलाकार अपने गद्य में पूर्ण यथार्थवादी बन गए हैं। प्रसाद के 'तितली' और 'कंकाल' जैसे यथार्थवादी उपन्यास, निराला की विभिन्न यथार्थवादी कहानियाँ और 'बिल्लेसुर बकरिहा' तथा 'कुल्ली भाट' जैसे लघु उपन्यास; महादेवी वर्मा की 'अतीत के चलचित्र' तथा 'स्मृति की रेखायें' जैसी यथार्थवादी संस्मरण-कथायें इसके प्रमाण स्वरूप प्रस्तुत की जा सकती हैं। इनके इस गद्य-साहित्य में इनका वह यथार्थवादी जीवन और यथार्थवादी दृष्टिकोण इनकी सम्पूर्ण कल्पना, आदर्श और रहस्य-भावना को दबाकर जीवन का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करता है। सच्चा कलाकर यथार्थ की उपेक्षा नहीं कर सकता। वह किसी-न-किसी रूप में उसके साहित्य में कहीं-न-कहीं अवश्य उभर कर ऊपर आ जाता है। महादेवी वर्मा की संस्मरण-कथायें इसका उदाहरण हैं।

महादेवी की ये संस्मरण कथायें दो संग्रहों में संग्रहीत हैं—१—अतीत के चलचित्र, और २—स्मृति की रेखायें। इन दोनों में क्रमशः ग्यारह और सात, इस प्रकार कुल मिलाकर अठारह संस्मरण-कथायें हैं। इन संस्मरण-कथाओं को कहानियाँ मानना चाहिए या नहीं, यह प्रश्न अनेक आलोचकों ने उठाया है। स्वयं महादेवी इन्हें संस्मरण-कथाएं कहती हैं। राय कृष्णदास इन्हें कहानियाँ मानते हैं। शान्तिप्रिय द्विवेदी इन संस्मरणों में कहानी और कहानी में संस्मरण

ही मानते हैं। प्रो० वासुदेव इन्हें सच्चे अर्थों में कहानियाँ न मानकर संस्मरण ही मानते हैं और फिर भी महादेवी की हिन्दी के श्रेष्ठ कहानीकारों में गणना करते हैं। उनकी इस दुविधा का श्रेय महादेवी के उस अद्भुत रचना-शिल्प को दिया जा सकता है जिसने कहानी और संस्मरण के बीच का एक ऐसा स्वरूप प्रस्तुत किया है जो शुद्ध रूप से न तो कहानी माना जा सकता है और न संस्मरण ही। उसमें कहानी के तत्व भी मिल जाते हैं और संस्मरणों की विशेषतायें भी।

स्वयं महादेवी भी इस सम्बन्ध में आश्वस्त नहीं हैं कि उनकी इन कृतियों को कहानी माना जाय या संस्मरण, यद्यपि उनका मूल स्वर इन्हें कहानी मानने को ही अधिक लालायित सा प्रतीत होता है। कहानी वास्तविकता पर आधारित होती हुई भी कल्पना द्वारा ही रची जाती है। कहानीकार किसी सत्य घटना को देख उसमें अपनी कल्पना का समावेश कर एक प्रभावशाली कहानी रच डालता है। संस्मरणकार केवल अतीत की सत्य घटनाओं को ही अपनी व्यक्तिगत टिप्पणियों के साथ लिखता चला जाता है। उसमें कल्पना के लिए स्थान नहीं रहता। परन्तु जीवन की अनेक सत्य घटनायें इतनी विचित्र और रोचक होती हैं कि उनके सामने कभी-कभी अद्भुत काल्पनिक कहानियों का भी समस्त आकर्षण फीका पड़ जाता है। परन्तु कहानीकार को इस बात के प्रति सदैव सावधान रहना पड़ता है कि वह किसी सत्य घटना को कहानी का स्वरूप प्रदान करते समय मूल घटना के पात्रों, स्थानों आदि के असली नाम न देकर उनके स्थान पर कल्पित नाम ही दे। इसके विपरीत संस्मरणकार सर्वत्र वास्तविकता को ही प्रश्रय देने को बाध्य होता है। यदि संस्मरण-लेखक कलाकार है तो वह अपनी कुशल-कला द्वारा सहज ही अपने संस्मरणों को कहानी का रूप प्रदान कर सकता है। ऐसी स्थिति में उन संस्मरणों में अज्ञात रूप से कहानी-कला के सम्पूर्ण तत्व अनायास ही सिमट आते हैं। महादेवी वर्मा ऐसी ही कुशल संस्मरण-लेखिका हैं।

कहा जाता है कि कहानी में कल्पना का समावेश उसमें एक विचित्र आकर्षण और रहस्यमयता उत्पन्न कर देता है परन्तु महादेवी ने यथार्थ जीवन में ही ऐसी-ऐसी विचित्रताओं और रहस्यमयता के दर्शन किए हैं —"जिनके

सामने कल्पना के सभी निर्माण फीके पड़ जाते हैं।" फिर महादेवी के ऐसे संस्मरणों को कहानियाँ क्यों न स्वीकार कर लिया जाय। उनका कहना है कि—"जिस परिचय के लिए कहानीकार अपने कल्पित पात्रों को वास्तविकता से सजाकर निकट लाता है उसी परिचय के लिए मैं अपने पथ के साथियों को कल्पना का परिधान पहना कर दूरी की सृष्टि क्यों करती !" महादेवी के संस्मरणों के सभी पात्र किसी भी उच्च कोटि की कहानी के पात्र बनने की पूरी क्षमता रखते हैं। कल्पना के बिना ही उनका व्यक्तित्व, चरित्र आदि इतने आकर्षक और मनोरम हैं कि उन्हें कल्पना की अपेक्षा ही नहीं रह जाती।

कहानी में चित्रित पात्र किसी-न-किसी संवेदना के प्रतिनिधि बन कर ही आते हैं। वे विशिष्ट भी होते हैं और वर्ग-प्रतिनिधि भी। परन्तु संस्मरणों के पात्र ऐसे किसी विशिष्ट उद्देश्य को लेकर चित्रित नहीं किए जाते। कहानीकार अपने पात्रों के माध्यम से अपनी किसी विशिष्ट भावना या संवेदना को अभिव्यक्त करना चाहता है जो व्यापक अर्थों में समाज की भावना या संवेदना ही होती है। महादेवी ने भी अपने इन संस्मरणों में चित्रित पात्रों द्वारा इसी व्यापक सत्य की अभिव्यंजना करने की चेष्टा की है। उन्होंने इसके माध्यम से समाज का ही चित्रण किया है। और उनकी यह अभिलाषा उनके इन शब्दों से स्पष्ट हो जाती है—

"यदि इन अधूरी रेखाओं और धुँधले रंगों की समष्टि में किसी को अपनी छाया की एक रेखा भी मिल सके तो यह सफल है अन्यथा अपनी स्मृति को सुरक्षित सीमा से बाहर लाकर मैंने अन्याय ही किया है।"

उक्त वाक्यों से यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि इन संस्मरणों द्वारा महादेवी का मूल उद्देश्य अपने चतुर्दिक बिखरे वातावरण से उन तत्वों का चयन कर अंकित करना रहा है जो व्यक्ति की सीमाओं से बाहर निकल कर समष्टि के सबल, सजीव और सवाक् प्रतिनिधि बन जाते हैं। यही कहानीकार का उद्देश्य रहता है; फिर महादेवी के इन संस्मरणों को कहानियों का ही एक अभिनव स्वरूप क्यों न स्वीकार कर लिया जाय।

परन्तु इस तथ्य को स्वीकार कर लेने में एक बाधा आ खड़ी होती है और वह बाधा है इन संस्मरण-कथाओं का शिल्प-विधान। महादेवी के उपर्युक्त

दोनों संग्रहों के शीर्षक 'अतीत के चलचित्र' तथा 'स्मृति की रेखायें' यह प्रकट करते हैं कि इनमें संग्रहीत विषय-वस्तु कहानी न होकर संस्मरण ही हैं। इसका दूसरा प्रमाण यह है कि इन विभिन्न संस्मरण-कथाओं का एक भी शीर्षक नहीं है। दोनों ही संग्रहों के इतिवृत्तों के शीर्षक के स्थान पर क्रम-संख्या का ही प्रयोग किया गया है, यथा—एक, दो, तीन, चार···आदि। विभिन्न कहानी-संग्रहों के जिन संग्रह-कर्ताओं ने इन संस्मरणों में से जिनको छाँट कर अपने-अपने संग्रहों में स्थान दिया है, उन्होंने इन संस्मरणों के प्रधान पात्रों के नाम पर ही उनके शीर्षक बना लिए हैं, जैसे—'घीसा', 'अलोपी' आदि। अस्तु,

महादेवी वर्मा ने अपनी इन संस्मरण-कथाओं में हमारे समाज के निम्न वर्ग के उन व्यक्तियों तथा घटनाओं को अपनी ममता और करुणा का अक्षय दान कर चित्रित किया है जो उनके जीवन में आए थे और जिन्होंने अपने, ऊपर से साधारण परन्तु भीतर से गहन, व्यक्तित्व और चरित्र द्वारा उन्हें अपनी ओर आकर्षित किया था। महादेवी ने उनके जीवन को नजदीक से देखा है, परखा है, उनकी वेदना से पीड़ित और दृढ़ता से प्रभावित हुई हैं, उनकी निष्कपटता और सरलता ने उन्हें मुग्ध किया है, उनकी परिस्थिति जन्य स्वभाव की निर्बलताओं को उन्होंने सहानुभूति की दृष्टि से देखा है। उनके लगभग सारे पात्र निम्न श्रेणी के ही हैं जो अपनी अच्छाई-बुराई के साथ सच्ची परन्तु दलित पीड़ित मानवता के यथार्थ प्रतिनिधि बन गए हैं। इनमें भी महादेवी ने निम्न वर्ग की भारतीय नारी को ही अपनी संवेदना और सहानुभूति का प्रधान लक्ष्य बनाया है। उन्होंने एक स्थान पर स्वयं लिखा है कि—"मैंने भारतीय नारी को अनेक दृष्टि बिन्दुओं से देखने का प्रयास किया है। अन्याय के प्रति मैं स्वभाव से असहिष्णु हूँ।"

हिन्दी-साहित्य में यह पहला अवसर है जब एक नारी ने अपने चतुर्दिक फैले समाज की अन्य नारियों—विशेष रूप से निम्न वर्ग की नारियों—को नजदीक से देखा, समझा और उनकी विभिन्न समस्याओं को चित्रित किया है। महादेवी ने नारी-जीवन की कटुताओं को स्वयं सहा और झेला है इसलिए इन संस्मरण-कथाओं में नारी-जीवन की विषमताओं के साथ लेखिका की स्वानुभूति

ने मिश्रित होकर एक ऐसी तड़प पैदा करदी है जो अपना प्रभाव डालने में अद्वितीय हो उठी है। पुरुष द्वारा प्रताड़ित और पीड़ित नारी उनकी सहज संवेदता को उकसाने में सर्वत्र समर्थ रही है। इसलिए इन संस्मरणों में स्वाभाविक रूप से उस उपेक्षित-पीड़ित नारी के प्रति अमित ममता-करुण और उस अत्याचारी अन्यायी पुरुष के प्रति एक भयङ्कर आक्रोश की भावना उभर आई है। पुरुषों के प्रति इस भयङ्कर आक्रोश को देखकर ही कुछ लोगों ने महादेवी पर यह आक्षेप लगाया है कि वे पुरुष मात्र के प्रति अत्यधिक अनुदार और नारी के प्रति इतनी अधिक उदार और ममतामयी हो उठीं हैं जो पुरुष जाति के प्रति अन्याय और नारी के प्रति पक्षपात प्रतीत होता है। परन्तु यह आरोप लगाने वाले यह भूल जाते हैं कि कलाकार की सहानुभूति स्वभावत: ही निर्बल और दलित के प्रति रहती है। भारतीय नारी युग-युग से पीड़ित-शोषित रही है और पुरुष पीड़क और शोषक।

भारतीय निम्न वर्ग की नारी का ही नहीं बलिक नारी मात्र का जीवन अनादि काल से एक बँधे बँधाये ढर्रे पर चलता चला आरहा है—एक मशीन के समान अपरिवर्तनीय। जीवन की इसी एकरसता ने उसे स्वभाव से भीरु, परम्परा प्रिय, अन्ध-विश्वासिनी, और भयङ्कर रूप से रूढ़िवादिनी बना रखा है। समाज का मक्कार पुरुष-वर्ग सदैव से ही उसकी इस निर्बलता का लाभ उठाता आया है। महादेवी ने अपनी इन संस्मरण-कथाओं में भारतीय नारी के इसी दयनीय चित्र का कारुणिक इतिहास अङ्कित किया है। इस नारी के प्रति उनकी ममता इतनी गहरी है कि स्वयं आस्तिकता पर अडिग विश्वास रखती हुई भी वे 'भगवान की असहिष्णुता' और 'नियति की क्रूरता' पर व्यंग्यबाण छोड़ने में भी नहीं हिचकिचाई हैं। हमारे समाज की युवती विधवाओं ने महादेवी की करुणा और ममता को अपने प्रति अधिक आकर्षित किया है। उन्हें किसी भी युवती-स्त्री का वैधव्य बहुत अखरता है। समाज द्वारा छल से पतित की गई नारी को देखकर समाज के प्रति देख उनका आक्रोश भड़क उठता है और वे असहिष्णु हो उठती हैं।

महादेवी के इन नारी-चरित्रों का क्षेत्र नगर और गाँव दोनों ही के विस्तृत क्षेत्रों तक फैला हुआ है। शहरी निम्नवर्ग और ग्रामीण निम्नवर्ग के व्यक्तियों

में कोई विशेष अन्तर नहीं रहता क्योंकि शहरी निम्नवर्ग मूलत: गाँवों से ही शहर आता है। महादेवी के इन नारी पात्रों में बहुतायत निम्न वर्ग की ही रही है; मध्यवर्ग या उच्च वर्ग के नारी-समाज की ओर उनकी दृष्टि नहीं जा पाई है यद्यपि महादेवी स्वयं मध्यवर्ग की ही हैं। इसका कारण यह है कि परम्परानुसार उनका कवि-हृदय दीन-दलितों की दशा देखकर ही अधिक विचलित हुआ है। इस वर्ग के प्रति उनकी ममता और सहानुभूति ऐसी ही है जैसी कि शिक्षित मध्यवर्ग की निम्नवर्ग के प्रति होती है। इसी कारण इसमें समवेदना का भाव न रहकर करुणा और सहृदयता का भाव ही अधिक रहा है। महादेवी ने इस वर्ग की दयनीय स्थिति को तो देखा है परन्तु उस स्थिति के मूल-कारण तक उनकी दृष्टि नहीं जा पाई है। फलत: वे उस वर्ग की ऊपरी समस्याओं का तो चित्रण कर सकीं हैं परन्तु उन समस्याओं के समाधान प्रस्तुत करने में असमर्थ रही हैं और यही मूल कारण है कि इस वर्ग के असन्तोष के भीतर इस वर्ग की छिपी हुई परिवर्तन कारी उस शक्ति से वे अपरिचित ही रह गईं हैं जो क्रान्ति की जननी और नियामक होती है। फिर भी इस वर्ग के प्रति उनकी इस छायावादी सहानुभूति का मूल्य इस कारण अधिक है कि इन्होंने एक नारी होने के नाते नारी-हृदय की भावनाओं को अधिक अच्छी तरह से अनुभव और चित्रित किया है।

इन संस्मरण-कथाओं में महादेवी की मूल भावना वात्सल्य और सहानुभूति की ही अधिक रही है। 'घीसा' में उन्होंने निम्नवर्ग की नारी की विवशता, अज्ञानी बालकों की उश्रृंखलता और समाज के अज्ञानजनित निर्मम अत्याचारों का बड़ा हृदयद्रावक चित्रण किया है। इस वर्ग की नारी सम्पूर्ण अत्याचारों को कर्मफल मानकर सह लेती है; धर्म और ईश्वर पर उसका अटल विश्वास रहता है। महादेवी कलाकार हैं, इसलिए उन्होंने अपनी सशक्त लेखनी द्वारा नारी के वाह्य जीवन की जर्जरता और उसके भयानक अन्तर्द्वन्द्वों का बड़ा सफल चित्रण किया है। उनके इस चित्रण में प्रारम्भ से अन्त तक वेदना की एक अजस्र धारा प्रवाहित होती दिखाई देती है क्योंकि महादेवी मूलत: वेदना में ही विश्वास और आस्था रखने वाली लेखिका हैं। यही कारण है कि वे इस निम्न वर्ग के उस उज्ज्वल पक्ष का चित्रण करने में असमर्थ रही हैं जो इस जीवन का

एक अद्भुत रहस्य सा प्रतीत होता है। इस वर्ग के प्राणी रातदिन पिसते हुए भी सुख के क्षणिक अवसरों को अपने हाथ से नहीं निकलने देते और ऐसे अवसरों पर अपना सारा दुख भूल कर आनन्द में निमग्न हो जाते हैं। यही क्षण उनकी उस रहस्यमयी शक्ति के प्रतीक होते हैं जिसके बल पर इस वर्ग ने सदैव क्रान्ति का आह्वान किया है।

कहानी-कला की दृष्टि से इन संस्मरण-कथाओं में कथावस्तु भी है, पात्र और चरित्र-चित्रण का भी अभाव नहीं हैं, मनोरम घटनायें भी हैं और सरल, सारगर्भित, संक्षिप्त संवाद भी हैं। इनकी शैली संस्मरणात्मक होते हुए भी कहानी-कला के लगभग सभी प्रधान तत्वों को अपनी नवीनता की सीमा में समेट लेती है। इसी कारण आलोचकों को बाध्य होकर इन संस्मरणों को कहानियाँ स्वीकार करना पड़ा है। कुछ आलोचकों ने शैली की इस विचित्रता भरी नवीनता के कारण इन संस्मरणों की तुलना अंग्रेजी के प्रसिद्ध संस्मरणात्मक-निबन्ध-लेखक चार्ल्स लैम्ब के निबन्धों से की है। इन संस्मरणों में लेखक स्वयं ही उत्तम पुरुष-शैली में पात्र, घटना आदि का विश्लेषण करता हुआ आगे बढ़ता है। यही कारण है कि महादेवी की इन संस्मरण-कथाओं में संस्मरण, रेखाचित्र, कहानी, निबन्ध आदि के विभिन्न गुणों और शैलियों का समावेश हो गया है जिसने इन्हें कला के उच्च शिखर पर आसीन कर दिया है। उनकी कहानियों की यही कलात्मक विशेषता मानी जाती है।

इन संस्मरणों की शैली कवित्वपूर्ण होते हुए भी क्लिष्ट नहीं है। "नवीन उपमा, भाषा की नयी सजधज, नयी वाक्यावलियाँ– सब कुछ इनकी अपनी है।" इस शैली का एक उदाहरण दृष्टव्य है—"गाँव का एक नन्हा, मलिन, सहमा विद्यार्थी एक छोटी लहर के समान उनके जीवन-तट को अपनी सारी आर्द्रता से छूकर अनन्त जलराशि में विलीन हो गया है।" उनकी ऐसी ही शैली में करुण भावनाओं की अभिव्यक्ति कला का स्वरूप धारण कर लेती है। समष्टि रूप से महादेवी की शैली संक्षिप्त, गठी हुई, भाव-प्रवण और सरल होती है। वे थोड़े से ही शब्दों में किसी भी वस्तु या पात्र का सवाक् चित्र सा अङ्कित कर देती है। पात्रों की रूपरेखा का वर्णन करते समय इस शैली में

एक अद्‌भुत संक्षिप्तता और संयम आ जाता है। घीसा का रूप चित्र दृष्टव्य है—

"पक्का रंग पर गठन में और अधिक सुडौल, मलिन मुख जिसमें दो पीली पर सचेत आँखें जड़ी सी जान पड़तीं थीं। कस कर बन्द किए हुए पतले होठों की दृढ़ता और सिर पर खड़े हुए छोटे छोटे रूखे बालों की उग्रता उसके मुख की संकोच-भरी कोमलता से विद्रोह कर रही थी।"

उनकी भाषा पर यद्यपि कविता की भाषा का गहरा प्रभाव लक्षित होता है, फिर भी यह भाषा क्लिष्ट नहीं हो पाती। वह क्लिष्टता और सरलता का ऐसा अद्‌भुत रूप लिए आगे बढ़ती है जो अपनी व्यावहारिकता के कारण सुबोध, कलापूर्ण और प्रभावक बन जाती है। स्थानीय भाषा एवं शब्दों के प्रयोग उसके आकर्षण को और भी अधिक बढ़ा देते हैं। अनुभूतियों की गहराई के कारण यद्यपि कहीं-कहीं दार्शनिकता का पुट आ जाता है परन्तु फिर भी भाषा की सरसता, सरलता और मार्मिकता में रंचमात्र भी अन्तर नहीं आ पाता। संक्षेप में—

"उपयुक्त शब्द-चयन, मधुर तथा सार्थक वाक्य-विन्यास, स्वच्छ, चित्रमय और प्रवाहपूर्व भाषा" उनकी शैली में आकर्षण, प्रभाव और मनोरमता की सृष्टि कर देती है। स्थान-स्थान पर प्राचीन कवियों की पंक्तियों का प्रयोग, हास-परिहास और व्यंग्य के छींटे महादेवी की भाषा में एक ऐसा सौन्दर्य उत्पन्न कर देते हैं जो हिन्दी-गद्य-साहित्य में अन्यत्र-दुर्लभ सा ही प्रतीत होता है।

—:o:—